



चित्र ६ बुद्ध जीवन के दृश्य
 गुप्त युग, सारनाथ (इंडियन म्यूजियम, कलकत्ता)
 पृष्ठ ११३

काशी का इतिहास

हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर सीरीज

काशी का इतिहास

वैदिक काल से अर्वाचीन युग तक का
राजनैतिक-सांस्कृतिक सर्वेक्षण

लेखक

डा० मोतीचन्द्र

डायरेक्टर, प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम, बम्बई

प्रकाशक

हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर प्राइवेट लिमिटेड,
हीरावाग — बम्बई—४

विषय-सूची

पृ० स०

१-१८

पहला अध्याय—प्राकृतिक रचना और यातायात के साधन

दूसरा अध्याय—काशी का इतिहास और वैदिक, पौराणिक तथा

बौद्ध ग्रन्थों के साक्ष्य

१९-३०

तीसरा अध्याय—प्राचीन साहित्य के आधार पर काशी का धार्मिक इतिहास

३१-४२

चौथा अध्याय—महाजनपद, युग में बनारस के सामाजिक इतिहास के कुछ

पहलू और व्यापार

४३-४९

पाँचवाँ अध्याय—मौर्य और शुंग युग की काशी

५०-६५

छठा अध्याय—सातवाहनो से गुप्तों के उदय तक काशी का इतिहास

६६-७५

सातवाँ अध्याय—सातवाहन, कुषाण और मगध काल में बनारस की कला,

धर्म और व्यापार

७६-८२

आठवाँ अध्याय—गुप्तयुग में बनारस का इतिहास

८३-८७

नौवाँ अध्याय—राजघाट से मिली गुप्तकालीन मूर्त्तियों से बनारस के शासन

और व्यापार पर प्रकाश

८८-१०१

दसवाँ अध्याय—ईस्वी ५५० से करीब ७०० तक काशी का इतिहास

१०२-१०५

ग्यारहवाँ अध्याय—आठवीं सदी से गाहड़वालों के पहले तक काशी का

इतिहास

१०६-१११

बारहवाँ अध्याय—करीब ३०० ईस्वी से ११ वीं सदी के अन्त तक बनारस

की कला

११२-११६

तेरहवाँ अध्याय—काशी पर गाहड़वालों का राज्य

११७-१३२

चौदहवाँ अध्याय—गाहड़वाल युग में बनारस का शासन प्रवर्ध तथा

सामाजिक और धार्मिक अवस्था

१३३-१६५

पन्द्रहवाँ अध्याय—गाहड़वाल युग में तीर्थ क्षेत्र वाराणसी

१६६-१८६

द्वितीय खण्ड

पहला अध्याय—१२१० से १५१९ ईस्वी तक बनारस का इतिहास

१८९-२०२

दूसरा अध्याय—मुगल कालीन बनारस

२०३-२१९

तीसरा अध्याय—शाहजहाँ और ग़ज़ेब कालीन बनारस

२२०-२४९

चौथा अध्याय—१७०७ से १७८१ ईस्वी तक का बनारस

२५०-२९४

पाँचवाँ अध्याय—मराठे और बनारस (१७३४-१७८५ ईस्वी)	पृ० न० २९५-३०५
छठा अध्याय—महीपनारायण सिंह	३०६-३२०
सातवाँ अध्याय—डकन और बनारस	३२१-३३५
आठवाँ अध्याय—बनारस के महाजन	३३६-३५५
आठवाँ अध्याय—बज़ीर अली का मामला	३५६-३६२
नवाँ अध्याय—१८०० से १८२५ ईस्वी तक का बनारस	३६३-३८२
दसवाँ अध्याय—बनारस शहर के लोग, घाट, मंदिर, यात्रा डलन, इत्यादि	३८३-४०८
ग्यारहवाँ अध्याय—बनारस के पंडित, कवि और शिक्षा सम्बन्ध	४०९-४२७
परिशिष्ट १—प्राचीन काशी में वैशिक जीवन	४२८-४३२
परिशिष्ट २—हेन्स्टिंग्स द्वारा बनारस की शासन व्यवस्था	४३३-४३९
परिशिष्ट ३—बनारस के महाराज, रानी तथा दूसरे अफ़ग़ानों, मराठों, कुलम्बियों तथा बनारस के वागिदों का हेन्स्टिंग्स की नेकचलनी के बारे में परिपत्र	४४०-४४५
विशेष नाम-सूची	

पहला अध्याय

प्राकृतिक रचना और यातायात के साधन

किभी नगर के इतिहास को जानने के पहले उसकी प्राकृतिक बनावट के बारे में जानना अत्यंत आवश्यक है। इतिहास के भौगोलिक आधारों को ठीक-ठीक समझने के बाद हम उस स्थान से संबंधित बहुत-से जटिल प्रश्नों पर अनायास ही प्रकाश डाल सकते हैं, और उसकी बहुत-सी गुलियाँ सुलझा सकते हैं। सुदूर प्राचीन काल में वाराणसी की स्थापना का आधार धार्मिक न था। इतिहास से हमें पता चलता है कि हिन्दू धर्म से बनारस का संबंध बहुत बाद की घटना है, क्योंकि मनुस्मृति आदि ग्रंथों में तो काशी की साधारण-सी चर्चा है। बौद्ध जातकों में वाराणसी की धार्मिक प्रवृत्तियों के बदले काशी की बहुत सी बातों पर प्रकाश डाला गया है। वास्तव में उस प्राचीन युग में काशी का सनातन आर्य-धर्म से तो कोई विशेष संबंध नहीं था। इसमें सन्देह नहीं कि काशीवासी धार्मिक कट्टरता के पक्षपाती न थे, दूसरी ओर वे विचार स्वतंत्रता के पक्षपाती थे तथा इस देश की मूल धार्मिक धाराओं का जिनमें शिव और यक्ष-नाग पूजा मुख्य थी काशी में अधिक प्रचार था।

इतिहास की जांच पड़ताल करने पर पता चलता है कि काशी और उसकी राजधानी वाराणसी का महत्व विशेष रूपसे उसका व्यापारिक और भौगोलिक स्थिति के कारण था। जब सरस्वती के किनारे से आर्यों का काफिला विदेघ माथव के नेतृत्व में आधुनिक उत्तर प्रदेश के घने जंगलों को चीरता हुआ सदानौरा अथवा गडकी के किनारे जा पहुँचा और कोसल जनपद की नींव पड़ी, उसी समय संभवतः काश्यों ने बनारस में अपना अड्डा जमाया। अगर ध्यान देकर देखा जाय तो उनके यहाँ भूस्थापन का कारण वाराणसी की भौगोलिक स्थिति है। बनारस शहर अर्धचन्द्राकार में गंगा के बायें किनारे पर अवस्थित है (अ० २५°१८' उत्तर और देशांतर ८३°१' पू०)। नगर की रचना एक ऊँची ककरीले करारे पर जो गंगा के उत्तरी किनारे पर तीन मील फैली है, होने से नगर को बाढ़ से कोई खतरा नहीं रहता। आधुनिक राजघाट का चौरस मैदान जहाँ नदी-नालों के कटाव नहीं मिलते, शहर बसाने के लिए उपयुक्त था। एक तरफ वरना और दूसरी तरफ गंगा नगर की प्राकृतिक खाई का काम देती हैं। उत्तर-पश्चिम की ओर काशी के मार्ग में ऐसा कोई नैसर्गिक साधन जैसे पहाड़ियाँ, झील, दुर्लभ नदी इत्यादि नहीं है जिससे नगर के बचाव में सहायता हो पर यह तो निश्चित है कि काशी के आस-पास के घनघोर वन, जिसका उल्लेख जातकों में आया है, काशी के बचाव में काफी सहायक रहे होंगे। आधुनिक मिर्जापुर जिले की विन्ध्याचल की पहाड़ियाँ भी बनारस के बचाव में महत्वपूर्ण थी। इतिहास में अनेक ऐसे प्रकरण हैं जिनसे पता लगता है कि शत्रुओं के घावों से त्रस्त होकर बनारस के शासक विन्ध्याचल की पहाड़ियों में जा छिपते और मौका मिलते ही पुनः शत्रुओं को मार भगाते थे। १८ वीं सदी के मध्य में बलवन्तसिंह ने भी इसी नीति का सहारा लेकर अवध के नवाब शुजाउद्दौला को काफी छकाया था।

पश्चिम की ओर गंगा और यमुना के रास्ते काशी के व्यापारी मयूरा पहुँचते थे तथा पूरव की ओर चम्पा होते हुए ताम्रलिप्ति के वन्दरगाह तक। वाराणसी उम महाजन पथ पर अवस्थित थी जो तक्षशिला से राजगृह और बाद में पाटलिपुत्र को जाता था। यहाँ से अन्य सबके देश के मित्र-मित्र भागों को जाती थी, जिनसे होकर काशिक चन्दन और वस्त्र के द्वारा काशी की व्यापारिक महत्ता देश में चारों ओर फैलती थी।

यह कहना कठिन है कि जब आरम्भिक युग में यहाँ मनुष्य बसे तो वनारस की प्राकृतिक वनावट का क्या रूप था पर कृत्यकल्पतरु, काशीखड और १९ वीं सदी में जॉन प्रिन्सेप के नक्शे के आधार पर यह कहना सम्भव है कि गंगा वरना मगम में लेकर अस्ती मगम के कुछ उत्तर तक एक ककरीला करारा है जो गोदीलिया नाले के पाम कट जाता है। जमीन की सतह नदी की सतह से नीची पड़ जाने पर पानी अनेक तालों में इकट्ठा हो जाने से अधिक पानी बरना में चला जाता था। गोदीलिया नाले में मिसिर पोखरा, लक्ष्मीकुण्ड था, बेनिया तालाब का पानी गंगा में वह जाता था। मछोदरी रकवे का पानी बरना में गिरता था। मछोदरी के पूरव में बगार के नीचे एक चौरस मैदान पड़ जाता था जिसके उत्तर में नाले बहते थे।

स्थलपुराणों में मत्स्योदरी का काशी की एक नदी के रूप में उल्लेख एक पहली है। लक्ष्मीधर ने तीर्थ विवेचन खड में (पृ ३४, ५८, ६९) इस नदी का तीन बार उल्लेख किया है। एक स्थान पर (पृ ३४-३५) शुष्क नदी यानी अस्ती को पिंगला नाडी बरणा को इला नाडी और इन दोनों के बीच मत्स्योदरी को मुपुम्ना नाडी माना है। अन्यत्र (पृ ५८) गंगा और मत्स्योदरी के मगम पर स्थान मोक्षदायक माना गया है। तीसरे स्थान पर (पृ ६९) इस नदी के तीर पर देवलोक छोड़कर देवताओं के बसने की बात कही गयी है। मित्र मित्र द्वारा उद्धृत काशीखड (पृ २४०) में मत्स्योदरी को बहिरन्तश्चर कहा गया है और वह गंगा के प्रतिकूल धारा (महार मार्ग) में मिलती थी। इन सब उल्लेखों से पता चलता है कि कम से कम बागहवी नदी में मत्स्योदरी कोई छोटी-मोटी नदी अथवा नाले के रूप में थी जो गंगा में मिल जाती थी। पर काशीखड के आधुनिक संस्करण में मत्स्योदरी को भूमि के भीतर बहने वाली नदी माना गया है जिससे यह प्रकट होता है कि १५ वीं सदी में यह नदी लुप्त हो चुकी थी और लोग उसका अस्तित्व भूल चुके थे। सोलहवीं सदी में नारायण भट्ट की व्युत्पत्ति के अनुसार मत्स्योदरी काशी के गर्भ में अवस्थित होने से इसका नाम मत्स्योदरी पड़ा।^१

अब प्रश्न यह उठता है कि काशी की राजधानी वाराणसी का नामकरण कैसे हुआ। बाद की पौराणिक अनुश्रुतियों के अनुसार बरणा और अस्ति नाम की नदियों के बीच में बसने के कारण ही इस नगर का नाम वाराणसी पड़ा। कनिंघम^२ भी इस मत की पुष्टि करते हैं। लेकिन एम० जूलियन ने इस मत के बारे में नदेह प्रकट किया था^३। उन्होंने

^१ तीर्थ विवेचन खड, पृ० ३४, ५८, ६९

^२ एशेंट जियोग्राफी, पृ ४९९, इत्यादि

^३ जूलियन, लाइफ एंड पिलग्रिमेज आफ युवान च्वाइ १, १३३, २, ३५४

वरणा का प्राचीन नाम ही वरणासि माना था पर इसके लिए उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। विद्वानों ने इस मत की पुष्टि नहीं की, पर इस मत के पक्ष में बहुत-से प्रमाण हैं।

वाराणसी की पौराणिक व्युत्पत्ति को स्वीकार करने में बहुत-सी कठिनाइयाँ हैं। पहली कठिनाई तो यह है कि अस्सी नदी न होकर बहुत ही साधारण नाला है और इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि प्राचीन काल में इसका रूप नदी का था। प्राचीन वाराणसी की स्थिति भी इस मत का समर्थन नहीं करती। प्रायः विद्वान् सर्वसम्मत् है कि प्राचीन वाराणसी आधुनिक राजघाट के ऊँचे मैदान पर बसी थी और इसका प्राचीन विस्तार जैसा कि भग्नावशेषों से भी पता चलता है वरना के उस पार भी था पर अस्सी की तरफ तो बहुत ही कम प्राचीन अवशेष मिले हैं और जो मिले भी हैं, वे परवर्ती अर्थात् मध्यकाल के हैं।

अब हमें विचार करना पड़ेगा कि वाराणसी का उल्लेख साहित्य में कब से आया। काशी शब्द तो जैसा हम आगे देखेंगे सबसे पहले अथर्ववेद की पैपलाद शाखा से आया है और इसके बाद शतपथ में। लेकिन यह संभव है कि नगर का नाम जनपद से पुराना हो। अथर्ववेद (४।७।१) में वरणावती नदी का नाम आया है और शायद इससे आधुनिक वरना का ही तात्पर्य हो। अस्सी का तो नाम तक किसी प्राचीन साहित्य में नहीं आया है। बाद के पौराणिक साहित्य में अवश्य असि नदी का नाम वाराणसी की व्युत्पत्ति की सार्थकता दिखलाने को आया है (अग्नि पु० ३५२०)। यहाँ एक विचार करने की बात यह है कि अग्निपुराण में असि नदी को नासी भी कहा गया है। वस्तुतः इसमें एक काल्पनिक व्युत्पत्ति बनाने की प्रक्रिया दीख पड़ती है। वरणासि का पदच्छेद करके नासी नाम की नदी निकाली गयी है, लेकिन इसका असि रूप सम्भवतः और बाद में जाकर स्थिर हुआ। महाभारत ६।१०।३० तो इस बात की पुष्टि कर देता है कि वास्तव में वरना का प्राचीन नाम वराणसी था और इसमें से दो नदियों के नाम निकालने की कल्पना बाद की है। पद्मपुराणान्तर्गण काशी माहात्म्य^१ में भी वरणासि एक नदी है। वाराणसी का विस्तार वर्णन करता हुआ पुराणकार कहता है कि उसके उत्तर और दक्षिण में तो नदियाँ हैं और पूर्व में वरणासि नदी। यहाँ उत्तर दक्षिण की नदियों के नाम तो नहीं दिये गये हैं पर इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ गंगा और गोमती से तात्पर्य है। मत्स्यपुराण से तो यह पूर्णतया सिद्ध हो जाता है कि असि नदी की कल्पना बाद की है। शिव वाराणसी का वर्णन करते हुए कहते हैं—

वाराणस्या नदी पुण्या सिद्धगन्धर्वसेविता

प्रविष्टा त्रिपथा गगा तस्मिन् क्षेत्रे मम प्रिये। (१८३।६-७)

सिद्ध-गन्धर्वों से सेवित पुण्य नदी वाराणसी जहाँ गंगा से मिलती है, हे प्रिये, वह क्षेत्र मुझे प्रिय है।

वाराणसी क्षेत्र का विस्तार बताते हुए मत्स्य पुराण में एक और जगह कहा गया है—
वरणासी नदी यावत् तावच्छूलकनदीतुर्व भीष्मचण्डिकमारभ्यपर्वतेश्वरमतिके (१८३।६२)

^१ पद्मपुराण ५।५८। शौरिग, दि सेक्रेड सिटी आफ बनारस, लंडन १८६८,

वरणासी नदी से गंगा नदी तक भीमचंडी से पर्वतेश्वर तक काशी का विस्तार है। उक्त श्लोक की वरणासी आधुनिक वरना है। शुक्ल नदी (मितासिते सरिते यत्र सगते, ऋक्, खिलभाग) गंगा है और भीष्मचण्डी आधुनिक भीमचंडी है जो आधुनिक पचकोसी के रास्ते पर पड़ती है। पर्वतेश्वर का ठीक-ठीक पता नहीं पर शायद यह मंदिर राजघाट के आस-पास कहीं रहा हो।

उक्त उद्धरणों की जाच पड़ताल से यह पता चलता है कि वास्तव में नगर का नामकरण अस्सी पर बसने से हुआ। अस्सी और वरना के बीच में वाराणसी के बसने की कल्पना उस समय से उदय हुई जब नगर की धार्मिक महिमा बढ़ी और उसके साथ-साथ नगर के दक्षिण में मंदिरों के बनने से नगर के दक्षिण का भाग भी उसकी सीमा में आ गया, साथ ही पञ्चकोशी की मध्यकालीन कल्पना के अनुसार नगर की परिधि और भी विस्तृत कर दी गयी।

लेकिन प्राचीन वाराणसी सदैव वरना पर ही स्थित नहीं थी, गंगा तक उसका प्रसार हुआ था। कम से कम पतञ्जलि के समय में अर्थात् ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में तो यह गंगा के किनारे-किनारे बसी थी जैसा कि अष्टाध्यायी के सूत्र 'यस्य आयाम' (२।१।१६) पर पतञ्जलि के भाष्य 'अनुगग वाराणसी, अनुक्षोण पाटलिपुत्र' (कीलहार्न, १, ३८०) से विदित है। मौर्य और शुंग युग में राजघाट पर गंगा की ओर वाराणसी के बसने का प्रमाण हमें पुरातत्व के साक्ष्य से भी लग चुका है।

वरणा शब्द एक वृक्ष का भी द्योतक है। प्राचीनकाल में वृक्षों के नाम पर भी नगरों के नाम पड़ते थे जैसे कोशव से कोशावी, रोहीत से रोहीतक इत्यादि। यह समझ है कि वाराणसी और वरणावती दोनों का ही नाम इस वृक्ष विशेष को लेकर ही पड़ा हो।

वाराणसी नाम के उक्त विवेचन से यह न समझ लेना चाहिए कि काशी की इस राजधानी का केवल एक ही नाम था। कम से कम बौद्ध साहित्य में तो इसके अनेक नाम मिलते हैं। उदय जातक में इसका नाम सुरधन (सुरक्षित), सुतसोम जातक में सुदर्शन (दर्शनीय), सोणदण्ड जातक में ब्रह्मवर्द्धन, खड्गहाल जातक में (पुष्पवती), युवजय जातक में रम्म नगर (सुन्दर नगर) (जा० ४।१।१९), शस्त्र जातक में मोलिनी (मुकुलिनी) (जा० ४।१५) मिलता है। इसे कासिनगर और कासिपुर के नाम से भी लोग जानते थे (जातक, ५।५४, ६।१६५, धम्मपद अट्ठकथा, १।६७)। अशोक के समय में इसकी राजधानी का नाम पोतलि था (जा० ३।३९)। यह कहना कठिन है कि ये अलग-अलग उपनगरों के नाम हैं अथवा वाराणसी के ही भिन्न-भिन्न नाम हैं।

यह समझ है कि लोग नगरों की सुन्दरता तथा गुणों से आकर्षित होकर उसे भिन्न-भिन्न आदरार्थक नामों से पुकारते हो। पतञ्जलि के महाभाष्य से तो यही प्रकट होता है। अष्टाध्यायी के ४।३।७२ सूत्र के भाष्य में (कीलहार्न, २, ३१३) नव तत्रेति तद् भूयाज्जित्वरीयदुपाचरेत् श्लोक पर पतञ्जलि ने लिखा है—वणिजो वाराणसी जित्वरीत्युपाचरन्ति, अर्थात् ई० पू० दूसरी शताब्दी में व्यापारी लोग वाराणसी को जित्वरी नाम से पुकारते थे।

जित्वरी का अर्थ है जयनशीला अर्थात् जहाँ पहुँच कर पूरी जय अर्थात् व्यापार में पूरा लाभ हो। जातको में वाराणसी का क्षेत्र उसके उपनगर को सम्मिलित कर बारह योजन बताया गया है (जा० ४, ३७७, ५, १६०)। इस कथन की वास्तविकता का तो तभी पता चल सकता है जब प्राचीन वाराणसी और उसके उपनगरों की पूरी तौर से खुदाई हो, पर बारह योजन एक रुडिगट अक-सा विदित होता है।

कृत्यकल्पतरु^१ के तीर्थ विवेचन में भी वाराणसी के सम्बन्ध में अनेक उद्धरण मिलते हैं। ब्रह्मपुराण में शिव पार्वती से कहते हैं कि—हे सुरवल्लभे, वरणा और असि इन दोनों नदियों के बीच में ही वाराणसी क्षेत्र है उसके बाहर किसी को नहीं बसना चाहिए। मत्स्य पुराण के अनुसार यह नगर पश्चिम की ओर ढाई योजन तक फैला था और दक्षिण में यह क्षेत्र वरणा से गंगा तक आधा योजन फैला हुआ था। मत्स्य में ही अन्यत्र नगर का विस्तार बतलाते हुए कहा गया है—पूर्व से पश्चिम तक इस क्षेत्र का विस्तार दो योजन है और दक्षिण में आधा योजन, नगर भीष्मचण्डी से लेकर पर्वतेश्वर तक फैला हुआ था। ब्रह्मपुराण के अनुसार इस क्षेत्रका प्रमाण पाँच कोस का था, उसके उत्तर में गंगा तथा पूर्व में सरस्वती नदी थी। उत्तर में गंगा दो योजन तक शहर के साथ-साथ बहती थी। स्कंद पुराण के अनुसार उस क्षेत्र का विस्तार चारो ओर चार कोस था। लिंग पुराण में इस क्षेत्र का विस्तार कुछ और बढ़ाकर कहा गया है। इसके अनुसार कृत्तिवास से आरम्भ होकर यह क्षेत्र एक-एक कोस चारो ओर फैला हुआ है। उसके बीच में मध्यमेश्वर नामक भूमि लिंग है। यहाँ से भी एक-एक कोस चारो ओर क्षेत्र का विस्तार है। वही वाराणसी की वास्तविक सीमा है, उसके बाहर विहार न करना चाहिए।

अग्नि पुराण (३५२०) के अनुसार वरणा और अस्सी नदियों के बीच बसी हुई वाराणसी का विस्तार पूर्व में दो योजन और दूसरी जगह आधा योजन है। मत्स्य पुराण की मुद्रित प्रति (१८४५१) में इसकी लम्बाई चौड़ाई अधिक स्पष्ट रूप से वर्णित है। दक्षिण और उत्तर में इसका विस्तार आधा योजन है, वाराणसी का प्रस्तार गंगा नदी तक है।

ऊपर के उद्धरणों से यह पता चलता है कि प्राचीन वाराणसी का विस्तार काफी दूर तक था। वरणा के पश्चिम में राजघाट का किला जहाँ निस्सन्देह प्राचीन वाराणसी बसी थी एक मील लम्बा और ४०० गज चौड़ा है। गंगा नदी इसके दक्षिण-पूर्व मुख की रक्षा करती है, और वरणा नदी उत्तर और उत्तर-पूर्व मुखों की रक्षा एक छिछली खाई के रूप में करती है, पश्चिम की ओर एक खाली नाला है जिसमें से होकर किसी समय वरणा बहती थी। रक्षा के इन प्राकृतिक साधनों को देखते हुए ही शायद प्राचीन काल में वाराणसी नगरी के लिए यह स्थान चुना गया। सन् १८५७ की बगावत के समय अंग्रेजों ने भी नगर रक्षा के लिए वरणा के पीछे ऊँची जमीन पर कच्ची मिट्टी की दीवारें उठाकर किलेबन्दी की थी। पर पुराणों में आयी वाराणसी की सीमा राजघाट की उक्त लम्बाई चौड़ाई से कहीं अधिक है। ऐसा जान पड़ता है कि इन प्रसंगों में केवल नगर की सीमा

^१ तीर्थ विवेचन खड्ग, के बी रगस्वामी अध्यक्षर संपादित, बरोडा, १९४२, पृ० ३९-४०।

ही नहीं वर्णित है, वरन् तीर्थ के कुछ भागों की सीमा भी सम्मिलित कर ली गयी है। यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि वरना के उम पार तक प्राचीन वस्ती के अवशेष काफी दूर तक चले गये हैं। हो सकता है पुराणों द्वारा वर्णित इस सीमा में वे सब भाग भी आ गये हों। अगर यह ठीक है तो पुराणों में वर्णित नगर की लम्बाई चौड़ाई एक तरह से ठीक ही उतरती है।

वाराणसी के चारों ओर शहरपनाह का वर्णन जातको में आया है (जा० १।१२)। यहाँ नगर के चारों ओर को शहरपनाह का विस्तार १२ योजन और नगर और उसके उपनगरी की शहरपनाह का विस्तार ३०० योजन कहा गया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि शहरपनाह का यह आयाम अतिशयोक्तिपूर्ण है, अतः इससे हम केवल यही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वाराणसी के चारों ओर शहरपनाह थी। युद्ध में इस शहरपनाह का क्या उपयोग होता था इसका सुन्दर वर्णन एक जातक में आया है (जा० २।६४-६५)। एक समय एक बड़ी सेना के साथ, हाथी पर सवार होकर एक राजा ने बनारस पद धावा बोल दिया और नगर के चारों ओर घेरा डालकर उसने एक पक्ष द्वारा काशिराज को आत्मसमर्पण करने अथवा लड़ने के लिए ललकारा। बनारस के राजा ने लड़ने की ठानी। वह नगर के रक्षार्थ प्राकार, द्वार, अट्टालक और गोपुरों पर योद्धाओं को नियुक्त करके शत्रुओं का सामना करने लगा। इस पर आक्रमणशील राजा ने अपने हाथी को पाखर पहना दिया और स्वयं जिरह वस्त्र पहन कर और हाथ में अकृण लेकर हाथी को शहर की ओर बढ़ा दिया। नगर-रक्षक सेना को खिलती मिट्टी, गुलेलों से पत्थर (यन्त्रपासाण) और भाति-भाति के शस्त्रास्त्रों के साथ चलता देख कर हाथी डरा लेकिन पीलवान ने उसे आगे बढ़ाया। एक भारी बल्ली को अपने सूड़ में लपेटकर उसने नगर द्वार (तौरण) पर धक्के मार कर द्वार के व्योडे (पलिघ) को तोड़ दिया और इसतरह वह शहर में घुस गया।

यह उल्लेखनीय है कि बनारस की प्राचीन शहरपनाह के चिह्न अब भी बच गये हैं। शेरिंग ने^१ इस बात की जाँच की और उन्हें वरना सगम से आदमपुर मुहल्ले तक लगातार ऊँचे टीले इस प्राचीन शहरपनाह के भग्नावशेष प्रतीत हुए। बाढ़ के दिनों में वरना का जल शहरपनाह अथवा टीलों की इस शृङ्खला तक पहुँच जाता है। सूखे दिनों में इन टीलों और वरना के बीच में एक खाल पड़ जाती है। प्रिसेप का मत था कि इस शहरपनाह को मुसलमानों ने शत्रु से नगर की रक्षा करने के लिए बनवाया, पर अपने मत के पक्ष में उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। शहरपनाह का दक्षिण पश्चिमी छोर अब गंगा से एक तिहाई मील पर है लेकिन यह मानने का पर्याप्त कारण है कि मुसलमानी आक्रमण के बहुत पहले यह शहरपनाह गंगा से मिली हुई थी। इन सब बातों के साक्ष्य से ऐसा जान पड़ता है कि यह लंबी शहरपनाह प्राचीन काल में दक्षिण ओर से नगर की सीमा निश्चित करती थी और बाद में, जब नगर दक्षिण और दक्षिण पश्चिम की ओर बढ़ गया और नगरवासियों ने आत्मरक्षार्थ इस साधन को छोड़ दिया तब मुसलमानों

^१ शेरिंग, उल्लिखित, पृ० २९९।

ने इन टीलों का उपयोग आक्रमण के लिए किया^१। यह शहरपनाह आरम्भ में शायद वर्तमान टीलों के बीच में गंगा तक चली गयी थी अथवा दूरी कम करने के लिए यह गंगा तक वर्तमान तेलिया नाला होकर पहुँची हो। ऐसी अवस्था में इसका कुछ भाग वाद में शहर बसाने के लिए तोड़ दिया गया होगा क्योंकि इस बात के काफी प्रमाण हैं कि गंगा के किनारे शहर एक सँकरी पट्टी के रूप में बसा। अगर यह विचार सही है तो इससे यह नतीजा निकलता है कि बनारस शहर की सबसे पुरानी बस्ती बरना से गंगा तक फैली थी तथा इन दोनों नदियों के संगम तक एक लंबा अतरीप छोड़ती हुई वह राजघाट के पठार को घेरती हुई इस शहरपनाह के अंदर आजाती थी। ऐसा होने पर आधुनिक शहर की तुलना में प्राचीन बनारस काफी छोटा रहा होगा। लेकिन वाराणसी क्षेत्र की सीमा जैसा हमें पुराणकार बतलाते हैं काफी लंबी चौड़ी थी और वह इसलिए कि शहरपनाह के बाहर का भी भाग नगर की सीमा में ले लिया गया था।

बुद्ध-पूर्व महाजनपद युग में वाराणसी काशी जनपद की राजधानी थी। यह कहना कठिन है कि प्राचीन काशी जनपद का विस्तार कहाँ तक था। जातको में (जा० ३।१८९, ५।४१, ३।३०४, ३६१) काशी का विस्तार तीन-सौ योजन दिया गया है। काशी जनपद के उत्तर में कोसल, पूर्व में मगध, और पश्चिम में वत्स था^२। डा० आल्टेकर के मतानुसार काशी जनपद का विस्तार उत्तर पश्चिम की ओर दो-सौ पचास मील तक था, क्योंकि इसका पूर्व का पड़ोसी जनपद मगध और उत्तर पश्चिम का पड़ोसी जनपद उत्तर पंचाल था। एक जातक (१५१) के अनुसार काशी और कोसल की सीमाएँ मिली हुई थी। काशी की दक्षिणी सीमा का पता नहीं है पर वह शायद विन्ध्य श्रृंखला से घिरी थी। जातको के आधार पर डा० आल्टेकर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि काशी का विस्तार बलिया से कानपुर तक शायद रहा हो^३। पर श्री राहुल सांकृत्यायन का मत है कि आधुनिक बनारस कमिश्नरी ही प्राचीन काशी जनपद की सीमा तक है। संभव है कि आधुनिक गोरखपुर कमिश्नरी का भी कुछ भाग काशी जनपद में शामिल रहा हो।

प्राचीन युग में बनारस का क्या रूप था और काशी जनपद की क्या स्थिति थी इसके सम्बन्ध में ऊपर कहा जा चुका है पर काशी के इतिहास के लिए आधुनिक बनारस जिले की भौगोलिक स्थिति के बारे में भी कुछ बातों का जानना जरूरी है। प्राचीन साहित्य के आधार पर यदि हम तत्कालीन बनारस की प्राकृतिक स्थिति का अध्ययन यदि कर सकते तो वह बड़ा ही उपयोगी होता पर इसके लिए मसाला कम है। इसमें सन्देह नहीं कि आजकल के बनारस से प्राचीन बनारस बहुत भिन्न रहा होगा क्योंकि आज जिले के जिन भागों में घनी बस्ती है उन भागों में गाहड़वाल युग तक जंगल थे। शहर के अनगिनत तालाबों और पुष्करणियों का भी, जिनमें बहुत-सी तो १९ वीं सदी तक बच गयी थी, अब पता नहीं है। वे नाले भी अब पट चुके हैं जो एक समय बनारस की भूमि को

^१ शौरिंग, उल्लिखित, पृ० ३००।

^२ कौत्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, भा० १, पृ० १४

^३ ए० एस० आल्टेकर, हिस्ट्री आफ बनारस, बनारस १९३७, पृ० १२।

काटते रहते थे। ग्रहम नाली पर जो एक समय चीक तक पहुँचती थी अब शहर की घनी आबादी है और नाली के तो अब केवल नाम ही बच गये हैं।

जिले की आबादी आज बहुत घनी है, पर जातको मे हमें पता चलता है कि बनारस के आसपास घने जंगल थे। काशी जनपद के जिन ग्रामों इत्यादि के वर्णन हमें मिलते हैं उनमें अधिकतर आधुनिक बनारस तहसील के अथवा जौनपुर के थे जो प्राचीन काशि-जनपद का अंग था। मृगदाव और इक्षिपतन जिसे आज हम मारनाथ कहते हैं बनारस तहसील में है तथा मच्छिकाखड (आधुनिक मछली शहर) और कीटगिरि (केराक्ट) जौनपुर में है^१। सम्भवतः चन्दौली तहसील मध्यकाल में आबाद हुई। कम से कम इस तहसील में अभी तक गुप्तकाल या उसके पहले के भग्नावशेष नहीं मिले हैं, पर गाहड़-वाल युग (११-१२ वीं शताब्दी) में चन्दौली तहसील पूरी तरह ने बम चुकी थी जैसा कि हमें उस युग के ताम्रलेखों से पता चलता है।

बनारस जिला जिसमें रामनगर की भूतपूर्व देशी गिर्यामत भी सम्मिलित है, गंगा के दोनों किनारों पर २५८ और २५३५ अक्षांश उत्तर तथा ७८५६ और ७९५२ देशान्तर पूर्व तक फैला है। यह इलाका टेढ़ी-मेढ़ी थकल का है और इसकी लम्बाई पूर्व से पश्चिम तक ८० मील और उत्तर से दक्षिण तक चौड़ाई ३४ मील है। उत्तर में इसकी सीमा जौनपुर जिले से लगती है, उत्तर-पूर्व और पूर्व में गाजोपुर से, दक्षिण में मिर्जापुर से, दक्षिण-पूर्व में विहार जिला शाहाबाद से जिसे करमनासा नदी बनारस से अलग करती है। गंगा के बहाव से जिले का रकबा उत्तर-पूर्व की ओर घटता-बढ़ता रहता है, लेकिन यह घट-बढ़ यों ही मामूली-सी होती है।

सारा जिला गंगा की घाटी में स्थित है और इसके भूगर्भिक स्तरों से मिट्टी के सिवा और कुछ नहीं निकलना, क्योंकि बिन्ध्याचल की पहाड़ियाँ मिर्जापुर जिले में समाप्त हो जाती हैं। जिले में मिट्टी की गहराई का ठीक-ठीक पता नहीं है। पर गहरे कुओं की खोदाई से ३५ फुट तक लोम, उसके बाद तीस फुट नीली ग्वाच, उसके बाद २७ फुट जमी मिट्टी और उसके नीचे पानी के स्रोतों वाली लाल बालू मिलनी हैं। प्राकृतिक बनावट की दृष्टि से बनारस को दो भागों में बाँटा जा सकता है, एक उपरवार और दूसरा तरी। ये दोनों भाग गंगा के ऊँचे-नीचे करारों से विभाजित हैं। इन करारों की भिन्नता जमीन, प्रकृति और नदी के बहाव पर भी अवलंबित है। बनारस के दोनों भाग मुख्यतः जमीन का तल और ढाल में एक-दूसरे से भिन्न हैं।

जिले का पश्चिमी भाग जिसमें बनारस तहसील और गंगापुर तथा भदोही सम्मिलित हैं पूर्व की चन्दौली तहसील की अपेक्षा ऊँचे है। बनारस तहसील में जमीन की सतह पूर्व और दक्षिण-पूर्व की तरफ ढलुई है। तालों का बहाव गंगा की तरफ है इसी लिए जिले का पश्चिमी भाग नीचा-ऊँचा पठार है। जौनपुर आजमगढ़ की सड़कें जहाँ

^१ वी० सी० लाहा, इण्डिया एज डिस्क्राइव्ड इन अलॉ टेक्सट्स आफ बुधिज्म एण्ड जैनिज्म, पृ० ४२

उत्तर से बनारस पार करती है वहाँ उनकी ऊँचाई क्रमशः २३८ और २५० फुट है। बनारस की ऊँचाई समुद्री सतह से २५२ फुट है और यहाँ गंगा की सबसे कम ऊँचाई १९७ फुट है। उत्तर पूर्व अर्थात् परगना जाल्द्वपुर में यह सतह क्रमशः ढलती हुई नदी के उस पार बलुआ में आकर २३८ फुट रह जाती है।

सतह की इस ऊँचाई-निचाई का प्रभाव सतह की बनावट पर भी काफी पड़ा है। जिले के पश्चिमी भाग की समतल जमीन अच्छी है। जल विभाजकों के पास यह मूर सवाई कहलाती है, बाद में यह मूर अर्थात् बलुई हो जाती है। जिले की निचली जमीन मटियार कहलाती है और उसमें झीलो और तालाबों की सिंचाई से धान खूब होता है।

बनारस तहसील की प्राकृतिक बनावट के उपर्युक्त विवरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि आर्यों ने अपना केन्द्र पहले यहाँ क्यों बनाया। अच्छी जमीन, पानी की सुलभता तथा आयात-निर्यात के साधन इसके मुख्य कारण थे।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्राचीन युग का राजपथ भी बनारस से गाजीपुर होकर बिहार की ओर जाता था और वह शायद इसलिए कि गेंड ट्रक रोड के आधुनिक रास्ते पर उस समय घनघोर वन थे। गंगा पार चन्दौली तहसील में जमीन नीची होने से बरसाती पानी छोटी नदियों में बाढ़ लाकर काफी नुकसान पहुँचाता है और पानी के बहाव का ठीक रास्ता न होने से सिंचाई का प्रबन्ध भी ठीक से नहीं हो सकता। जमीन नीची होने से शायद यहाँ मलेरिया का भी अधिक प्रकोप रहा हो। जो भी हो अथर्ववेद की पैपलाद शाखा में बनारस के अर्बुदिक रीति-रिवाजों से अप्रसन्न होकर सूक्तकार काशी जनपद पर नक्सा को धावा करने को कहता है। समस्त प्राचीनकाल में तक्मा अर्थात् मलेरिया से लोग बहुत डरते थे और उनका डरना स्वाभाविक भी था क्योंकि कुर्न के आविष्कार के पहले मलेरिया मारी प्राण संहारक होता था।

गंगा—बनारस की प्राकृतिक रचना में गंगा का मुख्य स्थान है। गंगापुर के बेतवर गांव से पहले पहल गंगा इस जिले में घुसती है। यहाँ इससे सुबहा नाला आ मिला है। वहाँ से प्रायः सात मील तक गंगा बनारस मिर्जापुर जिले से अलग करती है और इसके बाद बनारस जिले में बनारस और चन्दौली तहसीलों को विभाजित करती है। गंगा की धारा अर्ध-वृत्ताकार रूप में वर्ष भर बहती है। इसके बाहरी भाग के ऊपर करारे पड़ते हैं और भीतरी भाग में रेती अथवा बाढ़ की मिट्टी। जिले में गंगा का रुख पहले उत्तर की तरफ होता हुआ रामनगर के कुछ आगे तक देहात अमानत को रालूपुर से अलग करता है। यहाँ करारा ककरीला है और नदी उसके ठीक नीचे बहती है। तूफान में नावों को यहाँ काफी खतरा रहता है। देहात अमानत में गंगा का बायाँ किनारा मूडादेव तक ऊँचा चला गया है। इसके नीचे की ओर वह रेती में परिणत हो जाता है और बाढ़ में पानी से भर जाता है। रामनगर छोड़ने के बाद गंगा की उत्तर-पूर्व की ओर झुकती दूसरी केदुनी शुरू होती है। धारा यहाँ बायें किनारे से लगकर बहती है। अस्मी सगम से लेकर ऊँचे करारे पर बनारस के मन्दिर घाट और मकान बने हैं और दाहिने किनारे पर बलुआ मैदान है। मालवीय पुल से कौंधी तक नदी पूरब की ओर बहती है। यहाँ धारा बायें

किनारे ने लगकर बहती है और यह ऊँचा करारा बरना गंग के कुछ आगे तक चला जाता है। नावों के लिए अंतरनाक चचरियों की वजह से गंगा की धारा बदलने की सम्भावना ही नहीं रह जाती। तातेपुर पर यह धारा दूसरे किनारे की ओर जाने लगती है और किनारा नीचा और बलुआ होने लगता है। दाहिनी ओर मिट्टी के नीचे करारे का बाड ने डूबने का नय रहता है।

कैयी के पान गंगा पुन उत्तर की ओर झुकती है और उसका यह रुख बलुआ तक रहता है। कैयी के काँवर तक दक्षिणी किनारा पहले तो भरभरा रहता है पर बाद में ककरीले करारे में बदल जाता है लेकिन काँवर से बलुआ तक मिट्टी की एक उपजाऊ पट्टी कुछ भीतर घुसती हुई पडती है। इन घुमाव के अन्दर जालूपुर परगना है। इन परगने के अन्दर गंगा की एक उपधागा बहती है जो बरसात में कैयी का एक कोना काटकर चार गाँवों का एक टापू छोड़ देती है। यह उपधागा बलुआ के कुछ ऊपर गंगा से मिल जाती है। बलुआ से गंगा उत्तर-पश्चिम की ओर घूम जाती है। इसका बायीं ओर का किनारा जालूपुर और कटेहर की सीमा तक नीचा और बलुआ है। यहाँ से नदी पहले उत्तर को और, बाद में उत्तर-पूर्व की ओर बहती है। कटेहर के दक्षिण-पूर्व ऊँचा ककरीला किनारा शुरू हो जाता है और यहाँ-वहाँ वादर के टुकड़े दीव पडते हैं। दूसरा किनारा पराना बरह में पडता है। बरह के उत्तरी छोर से कुछ दूर गंगा गाजीपुर और वनागस की सीमाएँ अलग कती हैं और सैदपुर से वह गाजीपुर जिले में घुस जाती है।

बानगंगा—किनारे की भूगर्भिक बनावट और बहुत जगहों पर ककरीले करारों की वजह से जिले में नदी की धारा में बहुत कम बदल-बदल हुआ है। इन बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि प्राचीनकाल में बरह गाडा के सिवा गंगा की कोई दूसरी धारा थी। लेकिन इस बात का प्रमाण है कि गंगा की धारा प्राचीनकाल में दूसरी ही तरह से बहती थी। परगना कटेहर में कैयी के पास की चचरियों ने ऐसा लगता है कि इन्हीं ककरीले करारों की वजह से नदी एक समय दक्षिण की ओर घूम जाती थी। गंगा की इस प्राचीन धारा के बहाव का पता हमें बानगंगा से मिलता है जो बरसात में भर जाती है। टांडा से शुरू होकर बानगंगा दक्षिण की ओर छह मील तक महुआरी की ओर जाती है, फिर पूर्व की ओर रमूलपुर तक, अन्त में उत्तर में गमगढ को पार करती हुई वह हसनपुर (सैदपुर के सामने) तक जाती है। जिस समय गंगा की धारा का यह रुख था उस समय गंगा की वर्तमान धारा में गोमती बहती थी जो गंगा में सैदपुर के पास मिल जाती थी। यह कहना आसान नहीं है कि कैयी और टांडा के बीच में ककरीले करारे को गंगा ने कब छोड़ा लेकिन ऐसा हुआ अवश्य, इसका पता यहाँ की जमीन की बनावट से लगता है। ऊपर हम देख चुके हैं कि इस स्थान पर नदी का पाट, दूसरी जाहों की अपेक्षा जहाँ नदी ने अपना पाट नहीं बदला है, बहुत कम चौड़ा है। दूसरी तरफ बानगंगा का पाट बहुत चौड़ा है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि किसी समय यह किसी बड़ी नदी का पाट था। वैराट की लोककथाओं ने भी इस मत की पुष्टि होती है। जनश्रुति यह है कि शान्तनु ने बानगंगा को काशिराज की कन्या के स्वयम्बर

के अवसर^१ पर पृथ्वी फोड़कर निकाला। काशिराज की राजधानी उस समय रामगढ़ थी। अगर किसी समय राजासाद रामगढ़ में था तो वह गंगा पर रहा होगा और इस तरह इस लोककथा के आधार पर भी यह कहा जा सकता है कि एक समय गंगा रामगढ़ से होकर बहती थी।

गंगा की इस प्राचीन धारा के बारेमें प्राचीन साहित्य में भी अनेक प्रमाण हैं। ब्राह्मण और बौद्ध-साहित्य में तो गंगा की इस धारा की कोई चर्चा नहीं है पर जैन-साहित्य में इसका थोड़ा-बहुत उल्लेख है। जैनो के एक प्राचीन अग नायाधम्म कहा (४१२१) में इस बात का उल्लेख है कि बनारस के उत्तर-पूर्व में भयगंगा तीर्थदह अर्थात् मृतकगंगा तीर्थहृद था। उत्तराख्ययन चूर्णि (१३, पृ २१५) तथा आवश्यक चूर्णि (पृ ५१६) के अनुसार भयगंगा के निचले बहाव के रुख में एक हृद था जिसमें काफी पानी इकट्ठा हो जाता था जो कभी निकलता नहीं था। जिनप्रभ सूरि ने विविध तीर्थकल्प^२ में मातंग ऋषि बल का जन्म-स्थान मृतगंगा का किनारा बतलाया है। कथा में यह कहा गया है कि ऋषि बल एक समय तिन्दुक नामक उपवन में ठहरे थे। वहाँ उन्होंने अपने गुणों से गर्वित तिन्दुक यक्ष को प्रसन्न कर लिया। कोसलराज की कन्या ने एक समय ऋषि को देखकर उनपर धूक दिया इस पर यक्ष उसके सिर पर चढ़ गया और राजकन्या को ऋषि से विवाह करना पड़ा। ऋषि ने वाद में उसे त्याग दिया और उसने रुद्रदेव से विवाह कर लिया। भिक्षा-याचन पर निकले ऋषि का एक समय ब्राह्मण अपमान कर रहे थे लेकिन भद्रा ने उन्हें पहचाना और ब्राह्मणों की भर्त्सना की। ऋषि ने फिर ब्राह्मणों को भी क्षमा कर दिया।

मृतगंगा सबधी उक्त कथा से कई बातें ज्ञात होती हैं, पहली यह कि कम से कम गुप्तयुग में जब नायाधम्म कहा लिखी गयी मृतगंगा आज के जैसीही थी। दूसरी यह कि यह मृतगंगा बनारस के उत्तर-पूर्व में थी जो भौगोलिक दृष्टिकोण से बिल्कुल ठीक है। तीसरी यह कि आज से तेरह-सौ बरस पहले इसमें पानी भरा रहता था और यह वह बन जाती थी। आज दिन तो मृतगंगा में पानी केवल बरसात में आता है। संभवतः हजार बरस पहले वानगंगा अधिक गहरी थी और बाद में मिट्टी भरने से छिछली हो जाने के कारण पानी रोकने में असमर्थ हो गयी।

रामगढ़ में वानगंगा के तट पर बैराट के प्राचीन खडहरो की स्थिति है, जो महत्वपूर्ण है। लोककथाओं के अनुसार यहाँ एक समय प्राचीन चाराणसी बसी थी। सबसे पहले बैराट के खडहरो की जाँच पडताल ए० सी० एल० कार्लाइल^३ ने की। बैराट की स्थिति गंगा के दक्षिण में सैदपुर से दक्षिण-दक्षिणपूर्व में और बनारस के उत्तर-पूर्व में करीब १६ मील और गाजीपुर के दक्षिण-पश्चिम करीब बारह मील है। बैराट के खडहर वान गंगा के बर्तुलाकार दक्षिण-पूर्वी किनारे पर है।

बैराट के नाम की व्युत्पत्ति के बारे में ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। मत्स्यो की राजधानी बैराट जो जयपुर, राजस्थान में है, इससे भिन्न है, फिर भी मत्स्यो

^१ विविधतीर्थकल्प, शान्तिनिकेतन, १९३४, पृ ७३,

^२ ए० एस० रि० २२, पृ० १०८ इत्यादि।

के इस प्रदेश में होने का उल्लेख एक जगह महामारत में आया है। लगता है भित्त एक जगह स्थिर न होकर आगे-पीछे आते-जाते रहे होंगे और शायद इन नाम से उनका भवष भी हो। पर लौकिक अनुश्रुति के अनुसार इस स्थान का प्राचीन वागणमी से सबब है। आगे चलकर हम देखेंगे कि इस अनुश्रुति में नत्य का अंश है और इसे हम कोरी गप्प मानकर नहीं टाल सकते।

बैराट के खडहरों में प्राचीन किले का भग्नावशेष बान गंगा के पूर्वी कोने पर है। प्राचीन नगर के अवशेष किले से लेकर दक्षिण में बहुत दूर तक ऊँची जमीन पर हैं, इसके बाद वे घूमकर दक्षिण-पश्चिम की ओर नदी के किनारे पर स्थित हैं। पुराना किला मिट्टी का बना है पर उसमें बहुत-सी ईंटें भी मिलती हैं। उत्तर-दक्षिण में इसकी लंबाई १३५० फुट और पूरव-पश्चिम में ९०० फुट है। इसके बगल में प्राकार के ७० से १०० फुट चौड़े वप्र के अवशेष हैं। कहीं कहीं यह वप्र ऊँचा है पर अधिकतर नालियों से कट गया है। किले के तीन ओर अर्थात् उत्तर-पूर्व, उत्तर-पश्चिम और दक्षिण-पूर्व के अट्टालक बच गये हैं। किले के चारों फाटकों का, विशेष रूप से उत्तर-दक्षिण के फाटकों का अभी भी पता लगता है। किले के अंदर दक्षिण में करीब एक तिहाई भाग नीचा है, फिर एक तिहाई जमीन उत्तर की ओर चढनी हुई है और किले का उत्तरी चौथा भाग और भी ऊँचा है। उत्तर-पूर्व अट्टालक के पास किमी बड़ी इमारत के भग्नावशेष हैं। किले के बाहर की सड़क के निगान अब भी उत्तर-दक्षिण की ओर देख पड़ते हैं।

किले से करीब ३८० फुट की दूरी पर बैराट नामक गाँव है। इस गाँव के उत्तर-पूर्व में १५० फुट की दूरी पर एक दूसरा टीला है। गाँव से उत्तर की ओर करीब २०५० फुट पर नगतिन का तालाब है जिसके उत्तर में करीब ३२० फुट पर एक दूसरा टीला है। तालाब से करीब ६३० फुट पश्चिम में रामनाला नाम का मंदिर है जहाँ अघोरी महंत और उनके चेले रहते हैं। इस मंदिर से करीब चौथाई मील उत्तर में रामगढ का गाँव है।

बैराट गाँव के उत्तर पूर्व ६५० फुट पर ठीकरी और ईंटों से पटी कुछ ऊँची जमीन है। किले के दक्षिण में करीब ४५० फुट पर प्राकार के भग्नावशेष हैं जो पूर्व में पश्चिम तक करीब १४०० फुट तक दौख पड़ते हैं। इसके पास ही में एक चौम टीला है जिसके दक्षिण में एक नाला है। इस नाले से करीब ३२०० फुट पर रसूलपुर का गाँव और एक टीला है। इस तरह देखने से पता चलता है कि बानगंगा के पूर्वी किनारे पर पुराने किले से रसूलपुर तक कोई प्राचीन शहर बना था क्योंकि बरसात के प्रारम्भ में बराबर यहाँ से ठीकरे और ईंटें निकलती रहती हैं। इतना ही नहीं प्राचीन शहर के भग्नावशेष रसूलपुर से दक्षिण-पश्चिम करीब ३००० फुट और आगे तक चले गये हैं। शहर के इस बड़ाव के दक्षिणी कोने पर बानगंगा पर पुराना घाट है। जहाँ शहर के अवशेष खतम होते हैं वहाँ एक मिट्टी का ऊँचा बुर्ज है।

कार्लाइल के अनुसार प्राचीन किले को छोड़कर शहर की पूरी लम्बाई करीब ७००० या ८००० फुट यानी डेढ़ मील है लेकिन किले को लेकर शहर की लम्बाई

करीब पैंने दो या दो मील है। पूरब से पश्चिम तक शहर की चौड़ाई का इसलिए ठीक पता नहीं लगता क्योंकि खेतों के लिए जमीन समतल कर दी गयी है। लेकिन ध्यान से देखने पर शहर की उत्तर ओर चौड़ाई २००० फुट और दक्खिन १४०० से १००० फुट और ठेठ दक्षिण ओर ८०० फुट रह जाती है। प्राचीन नगर के ठेठ पूर्व में एक प्राचीन छिछली नदी का तल था जिससे नगर घिरा था। अब यह सूख गया है पर इसमें बरसात में थोड़ा पानी भर जाता है।

कार्लाइल ने बैराट ने बहुत-से आहत और ढलुए सिक्के पाये। ईसा पूर्व दूसरी सदी की ब्राह्मी लिपि में ज्येष्ठदत्त तथा विजयमित्र के सिक्के तथा कनिष्क के भी थोड़े सिक्के उन्हीं मिले। राय कृष्णदास के साथ लेखक ने भी बैराट से बहुत आहत सिक्के इकट्ठे किये। एक सिक्के पर शुंगकालीन ब्राह्मी में गोमि लेख है।

कार्लाइल को अकीक इत्यादि की बहुत-सी मणियाँ भी यहाँ से मिली। भारत कला भवन काशी में भी ऐसी मणियों का अच्छा संग्रह है। यहाँ हाथी दाँत की चूड़ियों के भी टुकड़े काफी संख्या में मिलते हैं। हम लोगों को पत्थर का एक टुकड़ा भी यहाँ से मिला जिस पर भरहुत से मिलती-जुलती शुंगकालीन बेल बनी है।

कार्लाइल को बैराट के आस-पास के नालों और खेतों से प्रस्तर युग की चिप्पियाँ (flakes) तथा कोर भी मिले थे। इन सब बातों से यह सिद्ध हो जाता है कि बैराट की बस्ती बहुत प्राचीन है। काली मिट्टी के ओपदार बरतनों के टुकड़ों के मिलने से तो यह निश्चित हो जाता है कि मौर्ययुग में यहाँ बस्ती थी।

ऊपर हमने बैराट के प्राचीन शहर का इसलिए विस्तारपूर्वक वर्णन किया है कि इस नगर की स्थिति से वाराणसी के प्राचीन इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। इस इतिहास के बारे में तो हम आगे चलकर विस्तार से वर्णन करेंगे यहाँ केवल काशी की प्राचीन स्थिति के सबंध की कुछ बातों का ज्ञान आवश्यक है। महाभारत (अनुशासनपर्व, १८९९, १९००) में यह कथा आयी है कि काशिराज हर्यश्व को वीतिहव्यों ने गंगा-जमुना के मैदान में हराकर मार डाला। हर्यश्व के पुत्र सुदेव को भी लड़ाई में मात खानी पड़ी। बाद में उनके पुत्र दिवोदास ने दूसरी वाराणसी गंगा के उत्तर किनारे और गोमती के दक्षिण किनारे पर बसायी। अब प्रश्न उठता है कि दिवोदास का बसाया यह दूसरा बनारस कहाँ पर था? गंगा की आधुनिक धारा को देखते हुए यह नगर गंगा गोमती के संगम कैथी के पास होना चाहिए पर कैथी के आस-पास किसी प्राचीन नगर का भग्नावशेष नहीं है। चद्रावती के भग्नावशेष भी गाहड़वाल युग के पहले के नहीं हैं और एक बड़े शहर का तो यहाँ नाम निशान भी नहीं मिलता। आज तक यह भी नहीं सुनने में आया कि चद्रावती से कोई प्राचीन सिक्के भी मिले हो। आस-पास खोजने पर बैराट के सिवा कोई ऐसी दूसरी जगह नहीं मिलती जहाँ प्राचीन काल में एक शहर रहा हो। गंगा-गोमती की वर्तमान धारा इस मत के विरुद्ध पड़ती है, पर गंगा की प्राचीन धारा की अगर कल्पना की जाय तो बैराट पर ही दिवोदास की बनायी दूसरी वाराणसी संभव जान पड़ती है। बानगंगा रसूलपुर तक पूर्ववाहिनी रहती है पर रामगढ़ के आगे उत्तरवाहिनी होकर हसनपुर में गंगा के वर्तमान प्रवाह में मिल

जाती है। जिस समय गंगा का मूल प्रवाह वानगंगा काँठे से था, उस समय गोमती गंगा की वर्तमान धारा में बहती हुई सैदपुर के पास गंगा से आ मिलती थी। इस तरह बैराट या प्राचीन बनारस गोमती के दक्षिण में पड़ता था जैसा कि महाभारत में कहा गया है।

अब प्रश्न यह है कि यह नयी वाराणसी कब तक बसी रही। ऐसा जान पड़ता है कि जब तक गंगा ने अपना प्रवाह नहीं बदला था तब तक नगर बैराट में ही बना रहा। पर जब गंगा ने इस जगह को छोड़ दिया तब नगर भी धीरे-धीरे वीरान हो चला और अंत में केवल टीला रह गया। लेकिन यह सब हुआ कब? ऐसा पता लगता है कि मौर्य युग तक तो बैराट का शहर बसा था और शायद गंगा ने तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व के बाद ही अपना रास्ता बदला होगा। कम-से-कम जैसा हमें जैन अनुश्रुतियों से पता लगता है गुप्तयुग में तो मृतगंगा अर्थात् वाणगंगा इतिहास में आ चुकी थी, अतः गंगा ने अपना रास्ता इसके कई शताब्दी पहले बदला होगा। यह प्रश्न ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है पर इस प्रश्न पर और अधिक प्रकाश तभी पड़ सकता है जब बैराट की आधुनिक ढंग से खुदाई हो। भारत कलाभवन की ओर से करीब २५ साल पहले हम लोगो ने पुरातत्त्व विभाग का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था और इस सबब में कुछ पैमाइश भी हुई थी पर बाद में मामला ठंडा पड़ गया। क्या हम आशा कर सकते हैं कि भविष्य में पुरातत्त्व-विभाग इस प्रश्न को अपने हाथ में लेगा?

बरना—सुबहा और अस्मी जैसे दो एक मामूली नाले-नालियों को छोड़कर इस जिले में गंगा की मुख्य सहायक नदियाँ वरना और गोमती हैं। बनारस के इतिहास के लिए तो वरना का काफी महत्त्व है क्योंकि जैसा हम पहले सिद्ध कर चुके हैं इस नदी के नाम पर ही वाराणसी नगर का नाम पड़ा। अथर्ववेद (५।७।१) में शायद वरना को ही वरणावती नाम से संबोधन किया गया है। उस युग में लोगो का विश्वास था कि इस नदी के पानी में सर्प-विष दूर करने का अलौकिक गुण है। प्राचीन पौराणिक युग में इस नदी का नाम वरणासि था। वरना इलाहाबाद और मिर्जापुर जिलो की सीमा पर फूलपुर के ताल से निकलकर बनारस जिले की सीमा में पश्चिमी ओर से घुसती है और यहाँ उसका सगम विसुही नदी से सरवन गाँव में होता है। विसुही नाम का सबन्ध शायद विषघ्नी से हो। संभवतः वरना नदी के जल में विष हरने की शक्ति के प्राचीन विश्वास का संकेत हमें उसकी एक सहायक नदी के नाम से मिलता है। विसुही और उसके बाद वरना कुछ दूर तक जौनपुर और बनारस की सीमा बनाती है। बलखाती हुई वरना नदी पूरब की ओर जाती है और दक्खिनी ओर कसवार और देहात अमानत की ओर उत्तर में पन्द्रहा, अठगार्वा और शिवपुर की सीमाएँ निर्धारित करती है। बनारस छावनी के उत्तर से होती हुई नदी दक्खिन-पूर्व की ओर घूम जाती है और सराय मोहाना पर गंगा से इसका सगम हो जाता है। बनारस के ऊपर इस पर दो तीर्थ हैं, रामेश्वर और कालकावाडा। नदी के दोनों किनारे शुरू से आखिर तक साधारणतः ऊँचे हैं और अनगिनत नालो से कटें हैं।

गोमती—इस नदी का भी पुराणो में बहुत उल्लेख है। पौराणिक युग में यह विश्वास था कि वाराणसी क्षेत्र की सीमा गोमती से वरना तक थी। इस जिले में पहुँचने

प्रकृतिक रचना और यातायात के साधन

के पहले गौमती का पाट सई के मिलने से बढ जाता है। नदी जिले के उत्तर में सुल्तानी-पुर से घुसती है और वहाँ से बाईस मील तक अर्थात् कैथी में गंगा से सगम होने तक यह जिले की उत्तरी सरहद बनाती है। नदी का बहाव टेढ़ा-मेढ़ा है और इसके किनारे कहीं ऊँचे और कहीं ढालुए हैं।

नद—नद ही गोमती की एकमात्र सहायक नदी है। यह नदी जौनपुर की सीमा पर कोल असला में फूलपुर के उत्तर-पूर्व से निकलती है और धौरहरा में गोमती से जा मिलती है। नद में हाथी नाम की एक छोटी नदी हरिहरपुर के पास मिलती है।

• करमनासा—मध्यकाल में हिंदुओं का यह विश्वास था कि करमनासा के पानी के स्पर्श से पुण्य नष्ट हो जाता है। करमनासा और उसकी सहायक नदियाँ चन्दौली तहसील में हैं। नदी कैमूर पहाड़ियों से निकल कर मिर्जापुर जिले से होती हुई, पहले-पहल बनारस जिले में मझवार परगने के फतेहपुर गाँव से घूमती है। मझवार के दक्खिन-पूरबी हिस्से में करीब दस मील चलकर करमनासा गाजीपुर की सरहद बनाती हुई परगना नरैवन को जिला शाहाबाद से अलग करती है। जिले को ककरैत में छोड़ती हुई फतेहपुर से चौतीस मील पर चौसा में वह गंगा से मिल जाती है। नौबतपुर में इस नदी पर पुल है और यही से ग्रैंड ट्रंक रोड और गया को रेलवे लाइन जाती है।

गडई—करमनासा की मुख्य सहायक नदी गडई है जो मिर्जापुर की पहाड़ियों से निकलकर परगना घूस के दक्खिन में शिवनाथपुर के पास से इस जिले में घुसती है और कुछ दूर तक मझवार और घूस की सीमा बनाती हुई बाद में मझवार होती हुई पूरव की ओर करमनासा में मिल जाती है।

चन्द्रप्रभा—मझवार में गुरारी के पास मिर्जापुर के पहाड़ी इलाके से निकल कर चन्द्रप्रभा बनारस जिले को बवुरी पर छूती हुई, थोड़ी दूर मिर्जापुर में बहकर उत्तर में करमनासा से मिल जाती है।

बनारस जिले की नदियों के उक्त वर्णन से यह ज्ञात होता है कि बनारस तहसील में तो प्रस्तावक नदियाँ हैं लेकिन चन्दौली में नहीं हैं जिससे उस तहसील में झीलें और दलदल हैं, अधिक बरसात होने पर गाँव पानी से भर जाते हैं तथा फसल को काफी नुकसान पहुँचता है। नदियों के बहाव और जमीन का ऊँचाई-निचाई की वजह से जो हानि-लाम होता है उसे प्राचीन आर्य भली-भाँति समझते थे और इसीलिए सबसे पहले आबादी बनारस तहसील में हुई।

किसी नगर की बढ़ती का एक मुख्य कारण यातायात के साधन हैं। बहुत प्राचीन काल से काशी में यातायात का अच्छा सुभीता रहा है। बौद्ध युग में एक रास्ता काशी होकर राजगृह जाता था। इस सड़क पर अन्धकविन्द पड़ता था। (विनय, १, पृ० २२०)। दूसरा रास्ता भद्रिया होता हुआ श्रावस्ती को जाता था (विनय १, १८९)। बनारस से तप्तशिला (धम्मपद अ० १, १२३) और वेरजा के बीच भी एक रास्ता था। कहा गया है कि एक समय बुद्ध वेरजा से बनारस तक इस रास्ते से गये। वेरजा से सोरेय्य, सकिस्स, कण्णकुज्ज होते हुए उन्होंने गंगा को प्रयाग-प्रतिष्ठान में पार

किया। बाद में वनाग्म से वे बैंगाली चले गये (समनपानादिका, १, २०१)।^१ वनाग्म गाजीपुर गेड होकर ही यह प्राचीन गम्ता बैंगाली को नष्ट गया होगा। वनाग्म से वेरजा तक की सड़क प्राचीन महाजन पथ का एक भाग जान पड़ती है। वेरजा से सड़क मधुग जानी थी और वहाँ से नलदिग। वनाग्म से बैंगाली तक जाने वाली सड़क के कुछ निशान अब भी बच गये हैं। कपिलनाग नागव से एक पतला रान्ता जल सड़क के मनजोग में वेरजा की तरफ निकल जाता है और इस नदी को पार करके गाजीपुर की ओर चला जाता है। इस रान्ते की गहराई देखने हुए और इसके दोनों ओर प्राचीन बस्तुओं के मिलने से यह कहा जा सकता है कि यह सड़क बहुत प्राचीन है और बौद्ध-युग में श्रृंगि-पन्न से वनाग्म तक जाने का यही मुख्य मार्ग था। मुगलों ने इस गम्ते में वेरजा पर एक पुल भी बाँधा था लेकिन अब यह क्षय हो चुका है और इसी के मनाते से इकन के समय वना का आनुतिष्ठ पुल बना था। इस सड़क पर अरुणपुर से वना पा जाने के लिए पुल बन गया है जिसने बागी से सागनाय का प्राचीन मार्ग फिर से आग्म हो गया है।

बागियों के आगम पर वनाग्मवासियों का बागी व्याप्त था। वे सड़को पर जानवरों के लिए पानी का भी प्रवन्ध करने थे। जानकों में (जा० १७४) एक जगह कहा गया है, कि बागी जनपद के राजानों पर एक गहना कुआँ था जिसके पानी तक पहुँचने के लिए कोई साधन न था। इस गम्ते में जो शेर जाते थे वे पुत्र के लिए पानी नीचकर एक झोपी में देते थे जिससे जानवर पानी पी सकें।

बागियों के विश्राम के लिये अक्सर चोगहाँ पर मनाएँ बनवायी जाती थी। इनमें सोने के लिये आमदी और पानी के घटे ग्वे होते थे। इनके चारों ओर दीवारें होती थी और एक ओर फाटक। नीचे जमीन पर बाड़ बिछी होती थी और नाह बृधों की कतारें लगी होती थीं (जा० १।७९)।

अब्रेन्नी के समय में (११वीं सदी का आगम) बारी (आग की एक तस्वीर) से एक सड़क गंगा के पूर्वी किनारे-किनारे बयोध्या पहुँचती थी। बागी से बयोध्या २५ क्रमग नपा वहाँ से वनाग्म बीस क्रमग था। यहाँ से गो-पुग, पटना, मुर्गे होती हुई यह सड़क गावाग को चली जाती थी^२। यही बैंगाली बागी प्राचीन सड़क है और इसका उपयोग मन्वन्त युग में बहुत होता था।

सड़क-ए-आजम जिसे हम ग्रेट ट्रंक रोड कहते हैं, बहुत ही प्राचीन सड़क है जो मौर्य काल में पुष्पलावती से पाटलिपुत्र होती हुई नामगलिनि तक जाती थी। मेगास्थनीज ने इस सड़क का मुन उद्घाटन किया, इस पर मनाएँ बनवाई और टाक का प्रबंध किया। कहते हैं कि यह सड़क-ए-आजम बंगाल में मोनारगाव से सिध तक जाती थी और इसकी लंबाई १५०० जोस थी। यह सड़क वनाग्म से होकर जाती थी^३। इस सड़क की अवसर के समय में भी काली उत्तमि हुई और शायद उसी काल में निर्जामाद और नैवद राजा

^१ मुचाक, अब्रेन्नींग इडिया, भा० १, लटन, १९१०, पृ० २००-२०१।

^२ कानूनगो, मेगास्थनीज, २९३-२९५।

प्राकृतिक रचना और यातायात के साधन

में सराए^१ बनी। आगरे से पटने तक इस सड़क का वर्णन पीटर मडी ने^२ १६३२ में किया है। चहार गुलशन^३ में भी बनारस से होकर जाने वाली सड़को का वर्णन है। एक सड़क दिल्ली-मुरादाबाद-बनारस होकर पटना जाती थी और दूसरी आगरा-इलाहाबाद होकर बनारस आती थी। इन बड़ी सड़को के सिवा बहुत-से छोटे-मोटे रास्ते बनारस को जौनपुर, गाजीपुर और मिर्जापुर से मिलते थे।

मुगलो के पतन के बाद बनारस की सड़को की पूरी दुर्गत हो गयी। १७८८ में बनारस के रेसिडेंट श्री डकन ने सुझाव दिया कि बनारस की सड़कें बहुत खराब हो गयी हैं और उन्हें अग्रेज अयवा राजा बनवा दे। १७८९ में तहसीलदारों को अपने हल्को में सड़कें ठीक रखने का आदेश हुआ, पर इसका कोई खास नतीजा नहीं निकला। १७९३ में पुन डकन ने इस बात को सूचना दी कि चुगी और दूसरी मदों से कुछ रुपया निकाल कर सड़को की मरम्मत करवा दी गयी थी। उसी समय बनारस से कलकत्ता तक १५ फुट चौड़ी सड़क बनी। १७९४ में बरना का पुल बँधा। पर इस सबके होते हुए भी सड़को की अवस्था विशेष न सुधरी। १८४१ में बोर्ड आफ रेवेन्यू के प्रस्ताव को मानकर एक प्रतिशत मालगुजारी से रोड मेस फंड कायम किया गया और तभी से बनारस की सड़को की क्रमशः उन्नति होने लगी।

बनारस के धार्मिक और व्यापारिक प्रभाव का मुख्य कारण इसकी गंगा पर स्थित है। गंगा में बहुत प्राचीन काल से नावें चलती थी जिनमें काफी व्यापार होता था। बनारस से कोशावी तक जलमार्ग से दूरी तीस योजन दी हुई है^३। बनारस से समुद्र यात्रा भी होती थी। एक जातक (३८४) में कहा गया है कि बनारस के कुछ व्यापारियों ने दिशाकाक लेकर समुद्र यात्रा की। यह दिशाकाक समुद्र में यात्रा के समय किनारे का पता लगाने के लिए छोड़ा जाता था। कभी-कभी काशी के राजा भी नावों के बंदों में (बहुनावासघाटे) सफर करते थे (जा० ३१२६)।

बनारस की उन्नति का प्रधान कारण नदी-व्यापार था। यह व्यापार कलकत्ते से दिल्ली तक रेल बनने से पूर्व तक बराबर चलता रहा, पर रेल चलते ही बनारस के नदी मार्ग के व्यापार को गहरा धक्का लगा। विजेता भी नदी मार्ग का उपयोग करते थे। अकबर ने गंगा से बनारस होकर अफगानों को हराने के लिए पटने की तरफ नाव से प्रस्थान किया। बनारस पर अंग्रेजों का अधिकार होने पर क्रमशः सड़को की उन्नति होने लगी, जकात-महसूल कम कर दिये गये और स्थल यात्रा में चोर-डाकुओं का भय भी क्रमशः कम होने लगा। इन सब कारणों से भी गंगा नदी का व्यापार क्रमशः कम होने लगा फलतः बनारस की समृद्धि को काफी धक्का पहुँचा। नदी में यातायात की कमी सबसे पहले १८४८ में लक्षित हुई। १८१३ तक तो शहर में अनाज नदी से आता था और १८२८ में बनारस में पटौली के क्षुरमुटो का उल्लेख है। इस घटते हुए व्यापार को

^१ दि ट्रेवल्स आफ पीटर मडी, टेंपुल द्वारा संपादित, भा० २, ७८, इत्यादि

^२ सरकार, इंडिया आफ औरंगजेब, कलकत्ता १९०१

^३ मजिहम निकाय, अटुकथा, भा०, २, ९२९

रोकने के लिए कर लगा कर नदी गहरी करने की योजना भी वनी पर यह सब बेकार गया। स्थल मार्ग से यात्रा नदी की यात्रा में सुखकर और सरल निकली और लोग उसी ओर झुक गये। पुराने कागजातों से पता लगता है कि नदियों पर भी डाकेंजनी होती थी। बीमे वालों को ठगने के लिए भी अक्सर नावें डुबा दी जाती थी। इन सब बदमाशियों से रक्षा पाने के लिये १८४९ में योजनाएँ बनायी गयीं पर उस समय तक तो नदी का व्यापार काफी ढीला पड़ चुका था।

महाजनपद युग में भी गंगा पर घाट चलते थे। घाटों में नाविक यात्रियों को पार ले जाते थे। अबारिय नामक एक बनारस के मूर्ख नाविक की कहानी में यह कहा गया है कि वह लोगों को पार पहुँचा कर फिर किराया माँगता था, और बहुधा उसे अपने किराये से हाथ धोना पड़ता था। बोधिमत्त्व ने उसे उपदेश दिया—अपना किराया नदी पार करने के पहले माँगो क्योंकि यात्रियों की चित्तवृत्ति वगैरह बदला करती है (जा० ३।१५२)। मुगल युग में भी गंगा और गोमती पर घाट चलते थे। इस समय भी गंगा पर कई घाट हैं जिनमें गमनगर, बलुआ और कैदी के घाट प्रमुख चलते हैं। गोमती पर भी कई घाट हैं। बनारस के पास वरना पर तीन घाट हैं। अंग्रेजों की अमलदारी के शुरू में घाटों पर सरकार का कोई अधिकार न था, फिर भी मभवत घाट चलाने का ठीका होता था। घाट पुस्त दूरपुस्त माँझियों के अधिकार में होते थे और वे ही उनकी देख रेख करते थे। १८१७ में बनारस के कलेक्टर को उनपर अधिकार करने की आज्ञा मिली और कर सरकार में जमा करने को कहा गया पर फकीरों और मानुओं को मफ्त में ले जाने की प्रथा कायम रखी गयी (बनारस गजेटियर, पृ० ७९-८०)।

दूसरा अध्याय

१. काशी का इतिहास और वैदिक पौराणिक तथा बौद्ध ग्रन्थों के साक्ष्य

१ वैदिक आधार

वैदिक आयों के आगमन से पूर्व कालीन काशी के इतिहास के बारे में कुछ कहना कठिन है क्योंकि बनारस नगर और जिले दोनों में ही पुरातत्त्व सम्बन्धी खोज अभी बहुत कम हुई है। फिर भी अगर हम बनारस की वर्तमान आबादी का विश्लेषण करें तो हमें बनारस के प्राचीन इतिहास का कुछ संकेत मिलेगा। बनारस की आबादी में भर इत्यादि जातियों की संख्या काफी है। काशी और उसके आस पास के इलाकों में यह अनुश्रुति प्रचलित है कि एक समय में बनारस और गाजीपुर में मरो और सुइरो का, जो निश्चित ही अनार्य जातियाँ थी, प्राधान्य था। बनारस शहर में तो नहीं, पर गाजीपुर में मसोन-डीह के सबसे नीचे स्तर से वाराणसी जिले में बैराँट से, मिर्जापुर शहर के पास से, मि० कालाइल को प्रस्तर युग के हथियार मिले हैं^१। यह मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि जिस आदिम सभ्यता के प्रतीक ये पत्थर के हथियार हैं उसका अधिकार बनारस और उसके आस-पास के इलाकों पर रहा होगा। संभवतः आयों के काशी पर अधिकार करने के बाद भी इन आदिम निवासियों का बनारस के आस-पास काफी प्रभाव था। पौराणिक अनुश्रुति^२ है कि काशिराज दिवोदास को हराकर जब हैहय-गज भद्रश्रेण्य ने काशी जनपद पर अधिकार कर लिया तब मौका पाकर राक्षस क्षेमक ने वाराणसी पर कब्जा कर लिया फिर दिवोदास के पोते अलर्क ने क्षेमक को मारकर पुनः बनारस पर अपना अधिकार जमाया। राक्षसों से यहाँ आदिम निवासियों का ही आशय जान पड़ता है तथा इस आख्यान में हम विजित और विजेताओं की उस कक्षमक्ष का आभास पाते हैं जिसमें कभी एक का पलड़ा भारी हा जाता था और कभी दूसरे का।

पूर्व भारत में आयों का प्रवेश कब हुआ, इसका ठीक-ठीक समय निश्चित करना तो कठिन है, लेकिन यह घटना उसी समय घटी होगी जब सरस्वती के किनारे से चल कर विदेश माथव और उनके पुरोहित गौतम राहुगण ने उत्तरप्रदेश में वैदिक सभ्यता का प्रकाश फैलाया। शतपथ ब्राह्मण (१।४।१।१०-१७) में इसकी कथा यों है—एक समय विदेश माथव के मुख में अग्नि वैश्वानर बंद हो गये। उनके कुल पुरोहित गौतम राहुगण ने राजा को बुलाना चाहा, पर वे इस भय से नहीं बोले कि कहीं अग्नि उनके मुख से टपक न पड़े। पुरोहितजी ने ऋग्वेद की ऋचाओं से अग्नि का आवाहन किया पर कुछ नतीजा न निकला। मद्योग से एक ऋचा में घृत का नाम आ गया। अग्नि को घृत प्रिय है, वस क्या था, वे राजा के मुख से निकल पड़े और पृथ्वी को दग्ध करते हुए पूर्व की ओर चल पड़े और उनके पीछे-पीछे विदेश माथव और गौतम राहुगण हो लिए। अग्नि ने अपने विक्रमण से नदियाँ सुखा डाली और इस प्रकार वे उत्तर हिमालय से निकली सदानाँरा नदी के किनारे

^१. ए एस आर मा २२, पृ ११ से

^२ वायु पुर १२।२३-२८, ६१-६८, ब्रह्मांड पुर ३।६३, ११९-१४१।

पहुँचे पर इम नदी को वे दग्ध न कर सके। प्राचीन काल में ब्राह्मणों ने इम नदी को इसलिए पार नहीं किया था क्योंकि वह अग्नि वैश्वानर से दग्ध नहीं हुई थी। ये घटनाएँ बहुत प्राचीन काल की थीं क्योंकि शतपथ काल में तो नदी के पूर्व में भी बहुतसे ब्राह्मण रहते थे। जिस समय सदानोरा के किनारे अग्नि वैश्वानर पहुँचे उस समय सदानोरा के पूर्व के प्रदेश में खेती नहीं होती थी और जमीन दलदल थी। इन सब का कारण शतपथ के अनुसार यह है कि अग्नि वैश्वानर द्वारा वह प्रदेश तब तक दग्ध नहीं हुआ था। शतपथ के समय में उस प्रदेश में खेती होती थी और गरमी में भी सदानोरा में ठंडा पानी जोरों से बहता रहता था। राजा ने जब अग्नि से अपने रहने का स्थान पूछा तो उसने नदी के पूरव का प्रदेश दिखा दिया। शतपथ के समय सदानोरा नदी कोमल और विदेह की सीमा बनाती थी। कोमल और विदेह दोनों मायव के अंग्रेज थे।

इस अनुश्रुति में आर्यों की पूर्व में भूप्रतिष्ठा की एक के बाद हमारे पड़ोसों का उल्लेख है। पहले पड़ाव में आर्य पंजाब से सरस्वती नदी तक फैले थे। वहाँ से विदेह मायव के नेतृत्व में सदानोरा (आधुनिक गडक) तक, जो कोमल और विदेह की प्राकृतिक सीमा है, पहुँचे। कुछ समय तक आर्यों की सदानोरा नदी पार करने की हिम्मत नहीं हुई, लेकिन शतपथ युग में नदी के पूर्व का भाग उन्होंने अपने अधीन कर लिया था। अग्नि वैश्वानर यहाँ आर्यवर्म और सभ्यता के प्रतीक यज्ञ के परिचालक हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब सदानोरा की ओर से आर्य सभ्यता का उत्तर विहार में प्रमाण हो रहा था उस समय काशी की ओर भी आर्य वध चुके थे अथवा नहीं। काशी प्रदेश में आर्यों की भूप्रतिष्ठा की कोई अनुश्रुति वैदिक साहित्य में नहीं मिलती। काशी का सर्वप्रथम उल्लेख अथर्ववेद की पैप्पलाद शान्वा (५।१२।१४) में आता है, वह भी विचित्र रूप में। मन्त्रकार एक रोगी के लिए तन्त्रमा अथवा जूड़ी में प्रार्थना करता है कि वह उसे छोड़कर गवार काशी और मगध के लोगों में अपना अधिकार फैलावे। इसके माने तो यह होते हैं कि गवार मगध और काशी के लोगों से कुरु-मन्त्राल देश के ठेठ वैदिक सभ्यता के अनुयायी आर्य अप्रमत्त थे और उनकी अवनीति देखना चाहते थे। इस श्रुति का कारण शायद इन प्रदेशों में धर्म-मालिन की शिथिलता थी। शतपथ ब्राह्मण (१३।५।४।१९) में कागिराज वृतराष्ट्र का भरत-कुल के शतानीक मात्राजित द्वारा हराये जाने का उल्लेख है। इस हार का नतीजा यह हुआ कि काशी-वासियों ने शतपथ ब्राह्मण के समय तक अग्निहोत्र छोड़ दिया था लेकिन यह समझ में नहीं आता कि हार जाने पर काशीवासियों ने अग्निहोत्र क्यों छोड़ दिया। क्या इस घटना से काशीवासियों की वैदिक प्रक्रियाओं की ओर अवहेलना प्रकट होती है? ऐसा संभव है क्योंकि वैदिक युग और बहुत बाद तक भी काशीवासियों में धार्मिक कट्टरता की कमी थी। वे दूसरों की बातें सुनते थे और दूसरों के विश्वासों का आदर करते थे। इसीलिए प्राचीन वैदिक दृष्टि में काशी की कोई धार्मिक महत्ता नहीं थी। आज दिन हम काशी को प्राचीन वैदिक धर्म का केन्द्र मानते हैं, पर मनुस्मृति में (तीसरी सदी ई० पू०) तो भारतवर्ष का पवित्रतम क्षेत्र ब्रह्मवर्त था, काशी की कोई गिनती ही नहीं थी। उसमें तो काशी मध्यदेश में भी नहीं सम्मिलित हुई है।

काश्यो और विदेहो का बड़ा घनिष्ट सवध था और इसका कारण दोनों का भौगोलिक सांनिध्य था। काशि-विदेह द्व द्व का प्रयोग कौशीतकी उपनिषद् (४।१) में सबसे पहले आता है। बृहदारण्यक (३।८।२) में गार्गी अजातशत्रु को काशी अथवा विदेह का राजा कहती है। शाखायन श्रौतसूत्र में (१६।१९।५) जलजातुकर्णी को काशी कोसल और विदेह के राजाओ का पुरोहित कहा गया है। बोधायन श्रौतसूत्र (२१।१३) में भी काशी और विदेह का पास-पास में उल्लेख हुआ है। काशि-कोसल का सर्वप्रथम उल्लेख गोपथ ब्राह्मण (१।२।९) में हुआ है। काशी की स्वतंत्र राज्यसत्ता नष्ट हो जाने पर और उसके कोसल में मिल जाने पर काशि-कोशल साथ-साथ आने लगे। महामाष्य के काशि-कोसलीया (काशी-कोसल सबधी) उदाहरण^१ में काशी और कोसल जनपदवाची शब्दों का जोड़ा बनाया गया है।

काशी के उक्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि काशी शब्द वैदिक साहित्य में काफी वाद में आया, लेकिन जैसा कि कीथ का अनुमान है^२ वाराणसी काफी पुरानी हो सकती है क्योंकि अथर्ववेद में (४।७।१) वरणावती नदी का नाम आया है जिसके नाम पर ही वाराणसी का नामकरण हुआ। यह बात विचारणीय है कि काशी का कोसल और विदेह से घनिष्ट सवध होने पर भी कुरुपाचालो से उसका सवध शत्रुतापूर्ण था। इस शत्रुता का कारण राजनीतिक अनवन तथा कुछ हद तक सांस्कृतिक दृष्टिकोण में विभिन्नता रही होगी। शतपथ में वर्णित विदेह माथव की कथा से तो यह पता चल जाता है कि कुरुपाचाल देश वैदिक सस्कृति का प्रधान केन्द्र था। पश्चिम के वैदिक क्रियावाद को पूर्व ने पूर्णतः स्वीकार नहीं किया था और पूर्व का झुकाव ब्राह्मण अध्यात्मवाद की ओर पूर्णरूप से नहीं था। बौद्धधर्म भी पूर्व की देन है और जैसा बौद्धग्रन्थों से पता चलता है यहाँ क्षत्रियों का स्तर ब्राह्मणों से ऊँचा था। इस ब्राह्मण और क्षत्रिय मनो-मालिन्य का पता हमें वाद के वैदिक ग्रन्थों^३ से लगता है जिनमें भगवत् के प्रति सदेह व्यक्त हुआ है। इसका कारण भगवदासियों की धार्मिक-वृत्ति ही हो सकती है। इस वृत्ति को हम वाजसनेयी सहिता (३।०।५।२२) तक में देख सकते हैं। यह भी संभव है कि कोसल, विदेह और काशी कुरुपाचालो की ही शाखाएँ थीं। संभवतः आदिवासियों को पूरी तरह न हरा सकने के कारण उनके विश्वासों और धर्म में आदिवासियों के धार्मिक विश्वासों का मिश्रण हो गया। दिवोदास के पीराणिक आख्यान और काशी में बहुत प्राचीन काल से लिंगपूजा शायद उत्तर प्रदेश की इस सकर वैदिक सस्कृति की ओर सकेत करते है। जैसा हम आगे देखेंगे, अगर कस्सियों से काश्यो का कोई सवध है तो उनकी मिश्र एसियानी और आर्यसस्कृति को इस देश के आर्य सदिग्ध दृष्टि से देखते रहे हो तो इसमें आश्चर्य न होना चाहिए।

वैदिक युग में स्थानवाचक प्रथा के अनुसार काशी के राजाओं को काश्य कह कर संबोधन करते थे। शतपथ में काशिराज धृतराष्ट्र का नाम आया है। हमें काशी के

^१ ४।८।४५, कीलहार्न, २, २८०

^२ वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृ० १५४

^३ कात्यायन श्रौतसूत्र, २५।४।२२, लाट्यायन श्रौतसूत्र, ८।६।२८

एक दूसरे राजा अजातशत्रु का भी पता है जिनने काशी को विदेहराज जनक की राजधानी की तरह दर्शन का केन्द्र बनाने का प्रयत्न किया। राजा अजातशत्रु स्वयं दार्शनिक थे जैसा कि ब्राह्मण बलाकी के साथ उनके मवाद से पता चलता है। पर इन राजाओं का काल गणना क्रम में क्या स्थान था यह कहना संभव नहीं है।

२ पौराणिक आधार

वैदिक साहित्य में काशी के इतिहास की सामग्री बहुत परिमित है, पर पुराणों में ऐसी बात नहीं है। इनमें जो वशावलियाँ दी हुई हैं उनके आधार पर महाभारत के पूर्व काशी के इतिहास का ढाँचा खड़ा किया जा सकता है। पुराणों के द्वारा काशी के धार्मिक विश्वासों पर और विशेषकर काशी में शिवपूजा के इतिहास पर भी काफी प्रकाश पड़ता है। फिर भी पौराणिक आधारों का उपयोग समझ वृथ्वा ही किया जा सकता है। इसका मुख्य कारण यह है कि पुराणों के निर्माण अथवा सकल काल का पक्का पता हमें नहीं है। बहुत काल तक श्रुत होने से भी वशावलियों में गड़बड़ी आ गयी है। पुराणों में बहुधा अनेक युगों की बातों का मग्न है और इसी कारण से नयी पुरानी बातें मिल गयी हैं, जिन्हें छँटकर उपयोग में लाने का काम आसान नहीं है। इतना सब होते हुए भी पौराणिक आधारों को केवल कपोल कल्पित समझकर छोड़ा नहीं जा सकता। उनमें इस देश के धार्मिक विश्वासों, वशावलियों तथा भूगोल संबंधी बहुत-सी सामग्री भरी पड़ी है, पर इनका उपयोग सावधानी से और तर्कमय दृष्टि से ही करना चाहिए।

श्री एफ० ई० पाजिटर ने काशी के इतिहास के इन पौराणिक आधारों को तर्कमय व्याख्या की है। उनके निष्कर्षों की पुष्टि पुनरावृत्ति की खोजों द्वारा ही हो सकती है। फिर भी जिन तथ्यों पर वे पहुँचे हैं उनमें से कोई असंभव बात नहीं देख पड़ती।

पुराणों में काशी वंश के दो उद्गम दिये गये हैं। सात पुराणों (ब्रह्मांड, वायु इत्यादि) के अनुसार यह वंश अयु के पुत्र से प्रारंभ हुआ। इस अनुश्रुति के अनुसार इस वंश के पहले चार राजा क्षत्रवृद्ध, सुनहोत्र, काश और दीर्घतपस्व हुए। ब्रह्म और हरिवंश पुराण इस वंश की भिन्न उत्पत्ति बताते हैं, जिनमें सुनहोत्र और पौरव वंश के सुहोत्र को एक ही बताया गया है। इस अनुश्रुति के अनुसार सुहोत्र वितथ का पुत्र था और इस प्रकार से काशी वंश की उत्पत्ति सुहोत्र पौरव से हुई। इस दूसरी अनुश्रुति के अनुसार इस वंश के प्रथम चार राजगण क्रमशः वितथ, सुहोत्र, काशिक और दीर्घतपस्व हुए। यह तालिका भर्गव तक पहुँचती है। लेकिन यह कहना कठिन है कि हम भर्गव को कालक्रम में कहाँ रखें^१।

पुराणों के आधार पर श्री पाजिटर ने काशी वंश की निम्नलिखित तालिका दी है—

(१) मनु, (२) इला, (३) पुरुरवम्, (४) अयु, (५) नहुष, (६) क्षत्रवृद्ध, (७-८) खाली, (९) सुनहोत्र, (१०-११) खाली, (१२) काश, (१३)-(१४) खाली, (१५) दीर्घतपस्व, (१६) खाली, (१७) वनव, (१८) खाली, (१९) धन्वतरि, (२०) खाली, (२१) केतुमत प्रथम, (२२) खाली, (२३) भीमरथ, (२४) खाली, (२५) दिवोदास प्रथम, (२६) अप्तरथ, (२७-३७) खाली, (३८) हर्यश्व, (३९) सुदेव, (४०) दिवोदास द्वितीय,

^१ पाजिटर, इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन, ५।१०।१, लंडन १९२२

(४१) प्रतर्दन, (४२) वत्स, (४३) अलर्क, (४४) खाली, (४५) सन्नति, (४६) सुनीय, (४७) खाली, (४८) क्षेम, (४९) खाली, (५०) केतुमत द्वितीय, (५१) खाली, (५२) सुकेतु, (५३) खाली, (५४) धर्मकेतु, (५५) खाली (५६) सत्यकेतु, (५७) खाली, (५८) विभु, (५९) खाली, (६०) सुविभु, (६१) खाली, (६२) सुकुमार, (६३) खाली, (६४) घृष्टकेतु, (६५) खाली, (६६) वेणुहोत्र, (६७) खाली, (६८) भर्ग । (६९-७०) खाली, (७१) पीरवस् (७२) जन्दु ।

इस तालिका से काशी के इतिहास पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता । तालिका में वैदिक साहित्य में आये राजाओं जैसे धृतराष्ट्र और अजातशत्रु के भी नाम नहीं मिलते ।

पुराणों में बहुत-सी ऐसी वरपरए मिलती हैं जिनमें हैहयों का काशी और अयोध्या के इतिहास से सव्व है । पुराणों के अनुसार दक्षिण मालवा में भद्रश्रेण्य की अर्वाचिता में हैहयों का चरमोत्कर्ष हुआ और उनका प्रभाव पूर्व की ओर बढ़ा । भद्रश्रेण्य महिष्मत के पुत्र थे । अपने पूर्व की विजयों में उन्होंने काशी जीतकर उस पर अपना अधिकार जमा लिया । उनकी चौथी पुस्त में अर्जुन कार्तवीर्य नर्मदा पर स्थित माहिष्मती पर राज्य करते थे । दिग्विजय करते हुए उनकी आयव वसिष्ठ से मूठमेढ हुई अर्थात् उन्होंने मध्यदेश जीत लिया । बाद में तालजघो और हैहयों ने उत्तर-पश्चिमी सेना की सहायता से अयोध्या के राजा बाहु को मार भगाया, पर बाहु के पुत्र सगर ने हैहयों से अपना राज्य वापस ले लिया और उनकी सत्ता नष्ट कर दी । अर्जुन कार्तवीर्य के समकालीन अयोध्या के शासक विशकु और हरिश्चन्द्र थे । इस तरह सगर की कहानी से हैहयों और इक्ष्वाकुओं की तालिका मिल जाती है ।

काशी सब्बी पौराणिक कथानकों में मेल खाता दिखलायी देता है^१ । इन कथानकों के अनुसार भीमरथ के पुत्र काशिराज दिवोदास अपनी राजधानी वाराणसी छोड़कर अपने राज्य के ठेठ पूरव में गोमती के किनारे एक दूसरा नगर बसाकर रहने लगे । भद्रश्रेण्य ने काशी जनपद जीत लिया और राक्षस क्षेमक ने वाराणसी दखल कर ली । दिवोदास ने भद्रश्रेण्य के पुत्री से पुन काशी वापस ले ली, लेकिन भद्रश्रेण्य के पुत्र दुर्दम ने पुन नगरी पर अपना अधिकार जमा लिया । दिवोदास के बाद उनके भाई अप्ठरथ काशी की गद्दी पर आये । प्रतर्दन दिवोदास के पुत्र थे । उन्होंने पुन अपना राज्य हैहयों से वापस ले लिया और हैहयों के साथ उनकी लड़ाई समाप्त हुई । प्रतर्दन के पौत्र अलर्क ने राक्षस क्षेमक को मारकर पुन वाराणसी वापस ले ली । ये सब घटनाएँ एक हजार वर्ष में हुई^२ । इस कहानी को पूरी तरह समझने में एक दूसरी क्षत्रिय अनुश्रुति से सहायता मिलती है^३ । इस अनुश्रुति की बातें कुछ गडबड भी हैं फिर भी इससे यह पता चलता है कि इस अनुश्रुति का सबब तालजघ के परवर्ती हैहयों और खासकर राजा वीतिहव्य के वंशजों से है । कथा में कहा गया है कि काशिराज हर्षव्व, वीतिहव्य के वंशजों द्वारा गंगा-यमुना के संगम पर हराये और मारे गये ।

^१ वायु पु० ९२।२३-२८, ब्रह्माड, ३।६३, ११९-१४१

^२ पाजिटर, उल्लिखित, पृ० १५३-१५४

^३ अनुशासन पर्व, ३०।१९४९-९६

इन्द्र के पुत्र मुदेव काशी की गद्दी पर बैठे पर वीतिहव्यों ने उन्हें भी हरा दिया। इनके बाद दिवोदास काशी के राजा हुए तथा उन्होंने वाराणसी नगरी बसायी। यह नयी वाराणसी नगरी गंगा के उत्तर किनारे और गोमती के दक्षिण किनारे पर बसी थी, लेकिन वीतिहव्यों ने उस पर भी चढ़ाई कर दी और एक हजार दिन लड़ाई होने के बाद दिवोदास जंगल में भागे जहाँ उन्होंने वृष्ण्यनि के सबसे बड़े पुत्र भरद्वाज के आश्रम में आश्रय पाया। यह भी अनुश्रुति है कि वंशांगी ने भरद्वाज काशी आकर दिवोदास के पुरोहित हो गये। दिवोदास के पुत्र प्रतदन ने वीतिहव्यों को हराया और वीतिहव्य भागकर भृगु ऋषि की शरण गये। भृगु ऋषि ने उन्हें ब्राह्मण बना उनको रखा की। इस घटना की पुष्टि ब्राह्मण अनुश्रुतियों ने होनी है जिनके अनुसार भरद्वाज दिवोदास के पुरोहित थे और उन्होंने प्रतदन को राज्य वापस दिलवाया^१।

काशी सबकी इन दोनों कथाओं की मृत्तना से पाजिटर इस तरीके पर पहुँचे कि पहली कथा में हँह्यों और काश्यों के बीच की लड़ाई के आदि और अंत का वर्णन आता है, तथा दूसरी कथा में इसके बाद की घटनाओं का। पाजिटर के अनुसार काशी के राजवंश में दो दिवोदास हुए, एक तो पहले प्रारंभ में हुए जो भीमरथ के पुत्र थे और दूसरे अंत में जो मुदेव के पुत्र थे। दोनों दिवोदासों के बीच में कम-से-कम तीन राजाओं तथा अष्टन्य, हर्यन्व और मुदेव ने काशी पर राज्य किया। पहली कथा में दोनों दिवोदासों का शागमेल हो गया है। प्रतदन दिवोदास द्वितीय के पुत्र थे। यह भी पता चलता है कि दूसरी कथा के वीतिहव्य (सम्वन बगावतियों के वीतिहव्य), ताज्जब के बाद के हँह्यवर्गीय राजा थे। पाजिटर के अनुसार शायद दिवोदास प्रथम ने दूसरी वाराणसी की स्थापना की^२।

पुर्णों में काशी के राजाओं के बारे में थोड़ी-सी और फुटकर बातें मिलती हैं जैसे अलर्क काशी के बड़े प्रतापी राजा थे। मत्स्य पुराण (१८०।६८) में तो वाराणसी को अलर्क की पुरी कहा गया है। अलर्क के प्रताप और दीर्घ राज्यकाल का कारण लोमानुद्रा की उन पर अनुकंपा कही गयी है^३।

हँह्यों और काश्यों के युद्ध से ज्ञात होता है कि मध्यप्रदेश के राजाओं की काशी पर बहुत प्राचीनकाल से दृष्टि रखा करनी थी। ऐतिहासिक काल में भी ११ वीं सदी में गांधर्व द्वारा काशी पर अधिकार इस प्राचीन राजनीतिक परंपरा का सूचक है।

महानान में भी काशी सबकी कुछ फुटकर बातें मिलनी है। एक जगह कहा गया है कि काशिराज की पुत्री सार्वेनी का विवाह भग्न दीप्ति ने हुआ था (आदिपर्व अ० १५)। भीष्म ने काशिराज की तीन पुत्रियों तथा अवा, अविका, और अवालिका को स्वयं ने अपने भाई विचित्रवीर्य के लिए जीता (उद्योग पर्व, १७२।१४)। एक जगह काशिराज मुवाहु का मोन द्वारा जीते जाने का उल्लेख है (समापर्व, अ० ३०)। कहा गया है कि काशिराज युधिष्ठिर के मित्र थे और उन्होंने कुरुक्षेत्र के युद्ध में पांडवों

^१ पञ्चविंश ब्रा० १५।२७; काठक संहिता, २१।१०, वैदिक इंडेक्स, भा० २, पृ० ९८

^२ पाजिटर, उल्लिखित, पृ० १५५

^३ पाजिटर, उल्लिखित, पृ० १६८

की मदद की (उद्योग अ० ७२) काशिराज का युद्धक्षेत्र में सुवर्ण माल्य विभूषित घोड़ों पर चढ़ने का (द्रोणपर्व, २२।३८) तथा शैब्य के साथ काशिराज का पाण्डव सेना के बीच ३०,००० रथों के साथ स्थित रहने के (भीष्मपर्व, अ० ५०) उल्लेख है। एक जगह काशिराज को धनुर्विद्या में बृहत् प्रवीण माना गया है (द्रोणपर्व, अ० २५)। युद्धक्षेत्र में काशी, कारूप और चेदि की सेनाएँ घुटकेतु के नायकत्व में थी (उद्योगपर्व, १९८)।^१

महाभारत में एक जगह (उद्योगपर्व ४७।४०) कृष्ण द्वारा वाराणसी के जलाये जाने का वर्णन है। विष्णु पुराण में भी काशी के जलाये जाने की पूरी कथा आती है।^२ कथा के अनुसार पौंड्रक नाम का एक वासुदेव था जो लोगों की खुशामद से बहककर अपने को सच्चा वासुदेव समझने लगा और उसने वासुदेव के लक्षणों को भी अपना लिया। इसके बाद उसने असली वासुदेव के पास एक दूत भेजा और उन्हें अपने लक्षणों को उतार फेंकने और अपनी अत्यन्त पौंड्रक या नकली वासुदेव की अभ्यर्थना करने के लिए आवाहन किया। कृष्ण ने हँसकर दूत को वापस भेज दिया और पौंड्रक से कहलवा दिया कि वे अपने चिह्न चक्र के साथ स्वयं उसके पास आ उपस्थित होंगे। इसके बाद कृष्ण पौंड्रक की ओर धड़े। काशिराज ने अपने मित्र पौंड्रक को आपत्ति से घिरा देखकर उसकी सहायता के लिए स्वयं सेना भेजी और स्वयं सेना के पृष्ठदेश में हो लिए। दोनों की सम्मिलित सेनाएँ कृष्ण का सामना करने के लिए आगे बढ़ी। लड़ाई में इस सम्मिलित सेना को हार खानी पड़ी और पौंड्रक के टुकड़े-टुकड़े उड़ा दिये गये। काशिराज फिर भी युद्ध से विरत नहीं हुए और तब तक लड़ते रहे जब तक उनका सिर कटकर अलग नहीं हो गया। इस तरह कृष्ण और काशिराज की लड़ाई का पहला अध्याय समाप्त हुआ और कृष्ण द्वारका लौट गये।

काशिराज के पुत्र ने यह पता लगने पर कि उसके पिता के घातक कृष्ण थे शकर की आराधना की और उनके प्रसन्न होने पर कृष्ण को नष्ट करने का वर माँगा। शिव ने कृत्या का सृजन किया और वह द्वारका जलाने के लिए दीदी। उसे नगर की ओर आते देखकर कृष्ण ने चक्र को उसे नष्ट कर देने की आज्ञा दी। चक्र को देखते ही कृत्या भागी पौर चक्र ने उसका पीछा किया और इस तरह से दोनों वाराणसी पहुँचे। काशिराज ने अपनी सेना के साथ चक्र का सामना करना चाहा पर चक्र ने उसे मार गिराया और वाराणसी में जहाँ कृत्या छिपी थी, आग लगा दी। इस तरह से वाराणसी नगरी जो देवताओं के लिए अवस्थ थी चक्र द्वारा उद्भूत आग की लपटों से आवृत होकर पूरी तरह से नष्ट हो गयी। यह कथा हरिवंश, भागवत और पद्म पुराणों में भी कुछ हेर-फेर के साथ आयी है।

उक्त कथा की जाँच-पड़ताल से तो ऐसा जान पड़ता है मानो यह कथा शैवों और वैष्णवों को लड़ाई की ओर संकेत करती हो। शिव की नगरी वाराणसी में कैसे वासुदेव प्रवेश नहीं पा सकते थे और कैसे भागवतों ने इससे क्रुद्ध होकर नगरी जला दी यही इस कथा के भीतर छिपी हुई घटना जान पड़ती है। पर वाराणसी जलाने का एक राजनीतिक

^१ वी० सी० लॉ, ट्राइन्व्स इन एशेन्ट इंडिया, पृ० १०५

^२ विष्णु पुराण, ५।३४, एच एच विल्सन का अनुवाद, पृ ५९७ से लइन १८४०

उद्देश्य नी हो सकता है। क्या से स्पष्ट है कि पाँडव अर्थात् पाँडव देश (उत्तरी बंगाल) के राजा का काशिराज में मित्रता का मन्त्र था। समस्त पाँडव जगन्मय के अनुयायी थे। महाभारत के समय जगन्मय मगध का राजा था तथा मगध से कृष्ण की शत्रुता थी। विष्णु पुत्र के अनुसार इस शत्रुता का कारण कृष्ण द्वारा कर्म का वध था क्योंकि कर्म को जरासभ की दो पुत्रियाँ व्याही थीं। जो भी हो, महाभारत में तो यह पता चलता है कि जरासभ ने उत्तर के अनेक राजाओं को हराकर कृष्ण की गजधानी मथुरा को जा घेरा। चेदिराज मिश्रपाल ने और जरासभ से इतनी घनिष्ट मित्रता थी कि जरासभ ने उसे मगध का मेनानी बना दिया था। काशिराज का उस समय क्या रुच था यह तो नहीं कहा जा सकता पर वे जरासभ के अनुगत रहे हों तो इन्हीं कोई आश्चर्य नहीं। इस तरह की राजनीतिक गुटबंदी में यह स्पष्ट हो जाता है कि कृष्ण ने बदला लेने के लिये वाराणसी नष्ट कर दी।

महानारत से यह भी पता लगता है कि भग्नवर्ष में काशी और अपर काशी नाम की दो जानियाँ (भीष्मपर्व, १०।८०) थीं। काशी तो काशी जनपद में बसने थे पर अपर काश्यों का निवास किन प्रदेश में था और उनका काश्यों ने क्या सबब था इस पर कहीं ने प्रकाश नहीं पड़ता। हो सकता है कि काशी और अपर काशी एक ही कबीले की दो शाखाएँ रही हों। एक शाखा काशी तो टूटकर काशी जनपद में जा बसी और दूसरी शाखा अपने आदि स्थान पर ही रह गयी। अब प्रश्न यह उठता है कि इन काश्यों का स्थान कहाँ था। अगर विदेहों और कोसियों की तरह काश्यों को भी कुरुक्षेत्रों को एक शाखा मान ली जाय तो अपर काश्यों को हमें कुरुक्षेत्र देश ही में कहीं ढूँढना पड़ेगा। यह भी उल्लेखनीय है कि गंगोत्री के रान्ते में भी उत्तरकाशी नाम का एक तीर्थ स्थान पड़ता है पर इस स्थान का अपर काश्यों ने हम तब तक सबब नहीं जोड़ सकते जब तक हमें यह पता न चले जाय कि बाल्मिक में उत्तरकाशी की स्थिति बहुत प्राचीन है।

रामायण में काशी से बलिन बहुत थोड़े ही प्रकरण आये हैं। उत्तर कांड में (५६।२५) काशीराज पुरवन् का नाम आया है। उसी कांड में (५९।१९) में ययाति के पुत्र पुरु को प्रतिष्ठान पर राज्य करते हुए काशी का भी राजा बतलाया गया है।

उन पौराणिक आचारों से काशी के प्राचीन इतिहास पर कुछ प्रकाश अवश्य पड़ता है पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से वह व्युत्पन्न ही है। यह भी कहना आसान नहीं है कि ऐतिहासिक कालगणना के क्रम में काशिराजों में किम राजा का क्या समय है। बहुत सोच समझकर शायद हम यह कह सकते हैं कि पौराणिक वधावलियों में जो काशी के राजगण आये हैं उनका समय ईसा पूर्व १००० वर्ष के पहले या पर कितने पहले, इस तथ्य तक पहुँचना कठिन है।

यहाँ पर हम एक विशेष बात की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं जिसका मन्त्र काश्यों के उदय से सम्बन्ध है। ईसा पूर्व करीब दो हजार पहले के बाबुली अभिलेखों में हमें कस्सी लोगों का पता चलने लगता है। खेती के मजदूरों के रूप में वे करीब १५० वर्ष तक बाबुल में प्रवेश पाते रहे। ईसा पूर्व १८ वीं सदी के मध्य में उन्होंने बाबुल जीत लिया और उस देश पर उनका अधिकार ११७१ ईसा पूर्व तक बना रहा। लूरिस्तान के निवासी कस्सी

उत्तर और पूर्व में बड़े। कस्सियो में अधिकतर एसियानिक थे पर भारोपीयो का उनपर कब्जा था। उसका नतीजा यह हुआ कि कस्सियो में एसियानी देवताओं और विश्वासों के साथ-साथ हम बाबुली और भारोपीय देवताओं और विश्वासों का मेल देख सकते हैं जैसे सस्कृत सूर्य की जगह शूरियश, मरुत् की जगह मरुतश् इत्यादि। अब कस्सियो का दिव्य प्रतीक था। एसियानी जाति के देव का नाम कश्यु था।

कस्सियो का वास्तविक इतिहास ईसा पूर्व २४वीं सदी से आरम्भ होता है। अशुर इन्हें कस्सी कहते थे और ग्रीक कोस्सबोई (Kossaiou)। कास्पियन सागर, काश्गिन काश्यपपुर (भुल्लान) तथा कश्मीर के नामों में कस्सियो का नाम बच गया है। ईरान तथा बाबुल के इतिहासों में कस्सी सस्कृति के बारे में काफी सूचना मिल जाती है पर भारत के साथ उनका संबंध कैसा रहा इसके बारे में इतिहास प्रायः मौन है पर काश्य—काशी—कश्यपपुर—कश्मीर में अगर कस्सियो के नाम का अवशेष बच गया है तो कस्सियो के भारत आगमन की बात पुष्ट होती है। महेसर के पास नवदा टोली से मिले पुरातात्विक अवशेषों, विशेषकर चित्रित मिट्टी के बरतनों से जिनका संबंध सियाल्क की कस्सी सभ्यता से है इस बात की संभावना और भी पुष्ट हो जाती है। पर इस संबंध में अधिक जानकारी काशी के आस-पास की खुदाई से ही अधिक मिल सकती है।

३ बौद्ध साहित्य में काशी

मगध पर महाभारत के युद्ध काल से ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी तक जब शैशुनाग वंश का उदय हुआ, बर्हद्वय राजाओं का राज था। इस युग के पालि वाङ्मय से यह प्रकट होता है कि बुद्ध के जन्म के कुछ शताब्दियों पहले काशी पर ब्रह्मदत्त वंश का राज्य था।

जातको से, जिनसे हमें भारतवर्ष की प्राचीन राजनीतिक स्थिति का ज्ञान होता है, पता चलता है कि मगध, वत्स, काशी, कोसल, उत्तर पंचाल और मगध गंगा की घाटी के मुख्य जनपद थे। काशी षोडश महाजनपदों में एक थी (अगुत्तर, १।२।१२) और यहाँ ब्रह्मदत्त वंश का राज्य था। मत्स्य पुराण के अनुसार (पृ० ५५६, ६७२, आनन्दाश्रम सीरीज) ब्रह्मदत्त वंश के सौ राजाओं ने काशी पर राज किया। एक जातक में उल्लेख है कि राजा ब्रह्मदत्त ने कुमार ब्रह्मदत्त को अपना उत्तराधिकारी बनाया (जा० २।६०)। इससे भी यह पता चलता है कि ब्रह्मदत्त वंश का नाम था। गगमाल जातक में (जा० ३।४५२) वनारस के राजा उदय को ब्रह्मदत्त कहकर संबोधन किया गया है।

सम्भव जातक युग में काशी और कोसल में अक्सर युद्ध हुआ करता था। विजय कभी एक पक्ष की होती थी कभी दूसरे की। उदाहरण के लिए एक जातक (३।२।११)^१ में कहा गया है कि काशी के एक ब्रह्मदत्त राजा वैभवशाली थे और इसके विपरीत कोसल के राजा दीधीति गरीब थे। ब्रह्मदत्त ने उन पर घावा बोल कर उनका खजाना जीत लिया। दीधीति और उनकी पत्नी जान बचाकर भागे। कुछ समय बाद उनको दीघावु नाम का एक पुत्र हुआ जिसे उन्होंने दूसरी जगह भेज दिया। जब ब्रह्मदत्त को यह पता चला कि कोसलराज सपत्नीक उनके राज्य में छद्मभावस्था में रह रहे हैं, उसने उनके वध की आज्ञा

^१ विनय १। ३४३, इत्यादि, धम्मपद अट्ठकथा, १। ५६ इत्यादि

दी। वधूमूर्ति को जाने हुए दीवीति ने अपने पुत्र दीघावु को देखा और उसे उपदेश दिया कि बहुत पाम और बहुत दूर मत देखो। उनके उपदेश का आग्रह समझकर दीघावु ने काशिराज की नीकरी कर ली। एक दिन दीघावु ब्रह्मदत्त का रथ हाँकता हुआ दूर निकल गया। थक जाने पर राजा ने रथ रुकवा दिया और सो गये। दीघावु ने पहले तो उसे मार डालने की मोची पर अपने पिता का उपदेश याद करके बैसा करने से रुक गया। ब्रह्मदत्त के जागने पर दीघावु ने उसे अपना पन्चिय दिया। ब्रह्मदत्त ने उसे उसका राज लौटा दिया और उसने अपनी बेंटी ब्याह दी।

एक दूसरे समय (जातक, ३११५ इत्यादि) काशिराज ब्रह्मदत्त ने कोमल पर चढ़ाई करके कोमल राज को बड़ी बना लिया और वहाँ अपने प्रादेशिक नियुक्त कर दिये। इसके बाद लूट-खसोट के बहुत-से द्रव्य के साथ वे काशी वापस आ गये। कोमल नरेज को छत्त नाम का एक पुत्र था। अपने पिता के कैद होने पर वह अपनी शिक्षा समाप्त करने के लिए तक्षशिला भाग गया। तक्षशिला में लौटने समय एक जंगल में उसकी ५०० ऋषियों ने भेंट हो गयी और वह उनका मुखिया बन बैठा। वनारस आने पर उसने राजा के उपवन में एक रान बितायी, दूसरे दिन तरस्वी मिथा माँगते हुए राजमहल के दरवाजे पर पहुँचे। छत्त ने आर्कापिन होकर राजा ने उसमें अनेक प्रश्न किये और उसने उनके सतोषप्रद उत्तर दिये। मन्त्राल ने उसने राजा के उपवन में गड़े अपने पिता ने लुटे हुए धन का भी पता लगाया। बाद में तपस्वियों ने उसने अपना भेद खोला और उनकी मदद में जाना श्रावस्ती पहुँचाया। तदुपरांत उसने ब्रह्मदत्त के सब कर्म-चारियों को पकड़कर अपना राज्य फिर में जीत लिया।

उपर्युक्त घटना ने यह न समझना चाहिए कि जोत मदा काशी की ही होती थी। कोमल द्वारा भी अक्षर वनाग्म जीतकर उस पर अधिकार करने के हवाले जानकों में आये हैं। महासीलव जातक (जा० ११२६२ इत्यादि) में कहा गया है कि एक समय कोमलराज ने वनारस जीतकर उसके राजा महासीलव और उसके मिपाहियों को गले तक जमीन में गड़वा दिया। महासीलव किसी तरह गड़े में निकले और उन्होंने अपने मिपाहियों को छुड़ाया तथा दो यक्षों की मदद में जो एक शव के लिए आपन में लड़ रहे थे राजा ने अपनी तलवार प्राप्त की और कोसलराज के धन्यागृह में आधी रात में जाकर उसे डराया। बाद में कोमलराज ने काशिराज को उनका राज लौटा लिया और वे अपनी सेना के साथ कोसल लौट गये।

एक जातक (जा० १४०९) में पता चलता है कि एक समय कोमलराज ने एक बड़ी मेना के साथ काशी पर चढ़ाई करके उसके राजा को मार डाला और वह उसकी रानी को उठा ले गया। लेकिन काशी का राजकुमार किसी तरह में निकल भागा और एक बड़ी मेना डकड़ो करके वह पुन काशी पर चढ़ आया। उसने अपना डेरा नगर के पाम डाल दिया और कोसलराज के पाम दून भेजकर राज्य वापस लौटा देने अथवा युद्ध करने को ललकारा। कोमलराज ने युद्ध करना निश्चित किया, पर राजपुत्र की माता ने उससे कहलवा भेजा कि वह चारों ओर में नगर छँक ले जिससे भूख-प्यास से

व्याकुल होकर लोग आप-ही-आप आत्म-समर्पण कर देंगे। राजकुमार ने ऐसा ही किया। भूल-भ्यास से पीड़ित होकर नागरिकों ने सातवें दिन कोसलराज का सिर काटकर राज-कुमार के पास भेज दिया और इस तरह वह अपना पैत्रिक राज्य पाने में सफल हुआ।

ऐसा जान पड़ता है कि इन लडाइयों में काशी जनपद धीरे धीरे कमजोर पड़ता गया। ईसा पूर्व छठी सदी के आरम्भ में काशी जनपद कोसल में मिला लिया गया। इसका श्रेय कोसलराज कस (जा० २८२, ५२१) को है क्योंकि इन्हें वाराणसिगहो (जा० २१४०३) अर्थात् वाराणसी विजेता कहा गया है। छठी सदी ईसा पूर्व के तृतीय चरण में जब मगध नरेश विविसार ने महाकोसल की पुत्री और प्रसेनजित् की बहन से विवाह किया तब काशी के कोसल में मिलने की बात पक्की हो चुकी थी क्योंकि विवाह के अवसर पर महाकोसल ने स्नानद्रव्य के लिए अपनी पुत्री को कासिक ग्राम उपहार दे दिया (जा० २१४०३, ४१३४२)। बहुत संभव है कि यह कासिक ग्राम आधुनिक परगना कसवार रहा हो।

काशी के राजा वीर होते थे। उनकी कोसल के साथ लडाइयों का वर्णन तो हम ऊपर कर चुके हैं। कामनीत जातक से हमें पता चलता है कि बनारस के एक राजा ने इन्द्रप्रस्थ, उत्तर पंचाल और कैकय देशों को जीतने की ठानी थी। अस्सक जातक से हमें पता चलता है कि विंध्य पर्वत के उस पार अस्सको ने भी काशी का अधिकार माना था।

जातकों में काशी के और बहुत-से राजाओं के, यथा अग, उगसेन, उदय, धनजय, विस्सेन, कलावु (जातक ३१३९) समय और किकी के नाम आये हैं। पर इनकी ऐतिहासिकता के बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता^१।

काशी के यों तो बहुत-से राजाओं ने अपना राज्य बढ़ाने की चेष्टा की लेकिन काशिराज मनोज ने तो तमाम भारतवर्ष में लडाईं लड़कर अपने लिये अग्निराजा की पदवी प्राप्त की। सोणनद जातक (जा० ५१३१५ इत्यादि) में इस विजययात्रा का सागोपाग वर्णन है। पहले उसने कोसलराज को हराया और बाद में क्रमशः अग, मगध, अस्सक और अवन्ती को। इस प्रकार वह सारे जवूद्वीप का राजा बन बैठा। गायद उसके विरुद्ध राजाधिराजा एव जयतपति थे (जा० ५१३२२, गा० १२७)। वाराणसी का नाम उसके समय में ब्रह्मवर्चन पड़ा।

मगधराज विविसार के पितृहता अजातशत्रु द्वारा मारे जाने के बाद विविसार की वंदेही और कौसली पत्नियों का पतिवियोग के दुःख से देहात हो गया। उसी समय महाकोसल के स्थान पर प्रसेनजित् कोसल की गद्दी पर बैठे और उन्होंने काशीग्राम की आमदनी वापस लेनी चाही। इस प्रश्न को लेकर अजातशत्रु और प्रसेनजित् में लडाईं छिड़ गयी। पहली तीन लडाइयों में अजातशत्रु ने प्रसेनजित् को हराकर श्रावस्ती तक खदेड़ दिया लेकिन चौथी लडाईं में विजय प्रसेनजित् के हाथ लगी और उन्होंने काशीग्राम जीत लिया। यह सब होने पर भी प्रसेनजित् ने अजातशत्रु से सुलह करके उसके साथ

^१ मलालशेखरे, टिक्सनरी ऑफ पाली प्रापर नेम्स में इन नामों की व्याख्या देखिये।

अपनी कन्या का विवाह कर दिया और दहेज में लड़ाई की जड़ काशी ग्राम को भी दे दिया (संयुक्त निकाय १, पृ० ८२-८५) ।

दीघनिकाय (१।२२८-९) में पता चलता है कि राजा प्रसेनजित् काशी-कोसल की प्रजा से कर वसूल करके अपने कर्मचारियों के साथ उसे बांट लेते थे । महावग्ग में एक काशिराज का नाम आता है जिसने जीवक को एक वस्त्र भेजा था । बुद्धधोम के अनुसार यह काशिराज प्रसेनजित् का सगा भाई था (विनय २, पृ० १९२, पा० टि० २) । शायद यह प्रसेनजित् का एक उपराजा था । जैन निरयावलिओं के अनुसार काशी-कोसल में अट्ठारह गणराज्य थे । इस उल्लेख का शायद यह तात्पर्य है कि काशी-कोसल प्रदेश में अट्ठारह उपराजा थे जो इस प्रदेश के राजा के अधीन थे ।

मगध के बढ़ते हुए राज्य और अजातशत्रु के पराक्रम के आगे कोसल बहुत दिनों तक अपनी स्वतंत्र सत्ता कायम नहीं रख सका । अजातशत्रु के राज्य के अंतिम दिनों में कोसल के कुछ हिस्से मगध में मिला लिये गये और धीरे धीरे कोसल और उसके साथ ही साथ काशी मगध में मिल गये और उनकी स्वतंत्रता और राज्य सत्ता नष्ट हो गयी ।^१

बुद्ध के समय में तो काशी की स्वतंत्रता नष्ट हो चुकी थी पर काशी का गत इतिहास लोगों की आँखों के सामने था और उमी की छाया हम बौद्ध साहित्य में पाते हैं । काशी के राजाओं तथा सामाजिक जीवन का बौद्ध साहित्य में सुंदर वर्णन है । बुद्ध के समय वाराणसी एक स्वतंत्र महाजनपद की राजधानी नहीं रह गयी थी फिर भी उसका सुनाम सारे भारतवर्ष में था । इसकी इनकी ख्याति थी कि बुद्ध के महापरिनिर्वाण के लिए प्रस्तावित स्थानों में राजगृह, चपा, साकेत, कोशावी और श्रावस्ती के साथ वाराणसी का भी नाम आता है (दीघनिकाय २, १४६) । ● ●

^१ भाडारकर, कार्माइकेल लेक्चर्स पृ० ७९

तीसरा अध्याय

प्राचीन साहित्य के आधार पर काशी का धार्मिक इतिहास

हिन्दू पुराणों में, विशेषकर मध्यकालीन पुराणों में, काशी को शैव धर्म का प्रसिद्ध क्षेत्र माना गया है। पर वैदिक और बौद्ध साहित्य में काशी जनपद और वाराणसी का महत्व उसका व्यापार और सस्कृति है, धर्म नहीं। कुरुपचाल देश में सर्वाधिक आर्य-धर्म और वाराणसी के आर्यों के धार्मिक विश्वासों में अंतर अवश्य था और इसीलिए काशी को वैदिक साहित्य में विशेष स्थान न मिल सका। काशी के आर्य-धर्म में और कुरुपचाल देश के आर्य-धर्म में क्या अंतर था, इसका तो हमें प्राचीन वैदिक साहित्य से अधिक पता नहीं चलता पर पुराणों और बौद्ध साहित्य में काशी के इस प्राचीन धर्म की कुछ बातें अवश्य आयी हैं। पुराण एक मत से इस बात के साक्षी हैं कि काशी तीर्थ शिव का प्रदान क्षेत्र है और आज से नहीं, सृष्टि के आरम्भ से। इस में कहाँ तक सत्य है यह तो तब तक नहीं कहा जा सकता जब तक पुरातत्त्व के द्वारा यह प्रमाणित न हो जाय कि गुप्तकाल के भी पहले काशी शैवों का प्रधान अड्डा था।

पुराणों में दक्ष-यज्ञ की कथा आती है। इस यज्ञ में शिव इसलिए नहीं बुलाए गये कि उनका वैदिक धर्म में विश्वास नहीं था। शिव-पत्नी सती विना न्योते के ही अपने पिता के घर गयी, वहाँ उनका निरादर हुआ और उन्होंने दुखी होकर यज्ञ-कुंड में कूदकर अपना शरीर त्याग दिया। इसके उपरान्त शिव की आज्ञा से वीरभद्र ने यज्ञ विध्वंस कर दिया। इस कथा में डाक्टर अल्टेकर के अनुसार, शैव और वैदिक धर्मों के मतभेदों को दूर करने की चेष्टा का आभास मिलता है पर यह चेष्टा सफल नहीं हुई^१।

काशीखंड (अध्याय ६२) और अन्य बहुत-से पुराणों में वर्णित दिवोदास की कथा में भी वैदिक धर्म को काशी की प्रजा और राजा दोनों ही द्वारा काशी में प्रवेश न करने देने की प्रवृत्ति के संकेत मिलते हैं। इस कथा के अनुसार राजा दिवोदास ने काशी से शिव को छोड़कर और सब देवताओं को निकाल बाहर किया। काशीखंड का कहना है कि (अध्याय ५८, ७८) सब देवताओं के काशी से निकल जाने पर वहाँ सत्य का प्रचार बढ़ा। बदला लेने के लिए देवताओं ने काशी को सहायता देना बंद कर दिया पर दिवोदास अडिग रहे। अंत में देवताओं ने घोषा देने की सोची। गणेश ने दिवोदास को इस बात पर तैयार किया कि अठ्ठारह दिन बाद उत्तर से आने वाले एक ब्राह्मण की सलाह दिवोदास मान लें। यह ब्राह्मण छत्र वेश में विष्णु थे। उन्होंने दूसरे देवताओं को काशी में आने के लिए दिवोदास को तैयार कर लिया। वायु पुराण से (३०।५८) यह सूचना मिलती है कि दिवोदास के काशी छोड़ देने पर भी और उसके नष्ट हो जाने पर भी शिव ने काशी नहीं छोड़ी। वाराणसी में विहार करते हुए उन्होंने गौरी से कहा—हे देवि, मैं इस नगर

^१ अल्टेकर, उल्लिखित, पृ० ३ से

को छोड़कर कहीं नहीं जा सकता। इसी लिए स्वयं देव ने इसे अविमुक्त क्षेत्र कहा है। अग्नि पुराण (३५१६) के अनुसार भी काशी का नाम अविमुक्त पड़ा क्योंकि शिव इसे कभी नहीं छोड़ते।

महाभारत में काशी के शैव तीर्थ होने का वर्णन केवल आरण्यकपर्व (८२।६९-७०) में आया है। यह मार्कें की बात है कि तीर्थयात्रा पर्व में जहाँ कुरु-पंचाल देश के अनेक छोटे मोटे तीर्थों का भी बहुत बड़ा चढ़ाकर वर्णन किया गया है वहाँ काशी क्षेत्र को केवल दो श्लोको में ही समाप्त कर दिया गया है। दूसरे शब्दों में काशी का उस काल में अपेक्षाकृत धार्मिक महत्त्व नहीं था जितना अब है। यह भी मभव है कि भागवत धर्म के समर्थक महाभारत में शिव की नगरी वागणमी का उतना ध्यान नहीं किया गया हो। आरण्यक पर्व में पता लगता है कि वाराणसी में वृषभध्वज की पूजा होती थी और कपिल-हृद (आधुनिक कपिलधारा) में स्नान करने में राजसूय यज्ञ का पुण्य होता था। बनारस के पान गया और गोमती के संगम पर मार्कण्डेय तीर्थ का भी उल्लेख आया है।

लेकिन जैसा हम ऊपर कह आये हैं बौद्ध और जैन साहित्य में तो काशी में शिव की पूजा के उल्लेख नहीं के बराबर हैं। इनके अनुसार वहाँ नागों और यक्षों की पूजा प्रचलित थी। संभव है कि इन्हीं यक्षों में शिव का भी स्थान रहा हो पर विशेष रूप से शिव का नाम वाराणसी के सबव में कहीं नहीं आया। बौद्ध साहित्य में शिव की गणना यक्षों में है, उदाहरणार्थ महामायूरी में^१ बनारस के प्रधान यक्ष को महाकाल कहा गया है जो शिव का एक नाम है। जो भी हो, यक्ष पूजा से बनारस का बड़ा प्राचीन भव्य जान पड़ता है और आज भी बनारस के बरम और बोर में प्राचीन यक्ष पूजा के अवशेष बच गये हैं।

जातक कथाओं में जन साधारण यक्षों से बहुत भयभीत चित्रित किये गये हैं। यक्षों के राजा वैश्रवण से भी लोग भय खाते थे। जन साधारण के लिए मसार यक्षों में भरा था और वे उन्हें मूर्तरूप में देवते थे। उनकी आँखें निश्चल होती थीं, परछाहीं नहीं पड़ती थी और वे निडर और क्रूर स्वभाव वाले होते थे। यक्ष मनुष्य और पशुओं का मांस खाते थे और रेगिस्तान तथा जंगलों पेड़ों और नदियों में घूमा करते थे। यक्षिणियों का स्वभाव तो और भी क्रूर होता था और वे अपने रूप, रस, गंध, स्पर्श से मनुष्यों को लुभाकर उन्हें अपना शिकार बनाती थीं। यक्ष मनुष्यों पर आते भी थे।^२ बनारस में कम से कम शुंग युग तक ऐसे यक्षों की पूजा होती थी क्योंकि इस युग की अथवा इसके पहले की यक्ष मूर्तियाँ भारत कला भवन बनारस तथा सारनाथ संग्रहालय में हैं।

जैन साहित्य से भी हमें पता चलता है कि ईसा पूर्व की शताब्दियों में यक्ष पूजा बहुत प्रचलित थी और उत्तर भारत के प्रत्येक शहर में यक्षों के चैत्य होते थे। जैन साहित्य से यह भी पता चलता है कि कुछ यक्ष ऊँचे दरजे के भी होते थे जो तपस्वियों का आदर करते थे (उत्तराख्ययन ३।१४ इत्यादि)। वाराणसी के गडि तिहुग नाम के यक्ष का नाम उत्तराख्ययन (१६।१६) में आया है। यह यक्ष मातंग ऋषि के गडि तिहुग उपवन की

^१ जर्नल० यू० पी० हि० सो०, भाग १५, पार्ट २, पृ० २७

^२ रतिलाल मेहता, प्रीवुष्टि इडिया, पृ० ३२४, बवई, १९३९।

रक्षा करता था। यक्ष अष्टमी, चतुर्दशी, अमावास्या और पूर्णिमा के दिन लोगों की मदद करते थे। पुत्र-कामिनी स्त्रियों के मानता मानने पर यक्ष उनको पुत्र प्राप्ति का वरदान देते थे। यक्ष लोगों की बीमारियों से भी रक्षा करते थे। एक जगह कहा गया है कि माणिमद्र यक्ष की प्रार्थना करने पर उन्होंने माता के रोग से नागर की रक्षा की। मध्र कुलटा स्त्रियों का भी पता पा लेते थे। माणिमद्र और पुण्यमद्र यक्ष उस समय मगध और अग में पुजते थे।^१

पर यक्ष केवल दयालु-ही नहीं होते थे, वे लोगों को मार भी डालते थे और अक्सर जैन साधुओं को रात में भोजन करा के उनका नियम भंग करवा देते थे। यक्ष लोगों के सिर चढ़ जाते थे और झाड़-फूंक के बाद उतरते थे। एक विचित्र विश्वास यह भी था कि यक्ष स्त्रियों से मैथुन करते थे। नीची जातियों के यक्ष अलग होते थे। यक्षों के उपलक्ष्य में बहुत-से उत्सव भी होते थे।

यक्षों के बारे में जो बातें बतलायी गयी हैं उनका सबध मगध और अग के यक्षों से हैं, पर काशी के यक्षों और मगध के यक्षों की पूजा में कोई भेद नहीं था। सम्भवतः काशी की यक्ष अथवा देव पूजा में भेड़, वकरी, मुरगी, सूअर इत्यादि पशुओं और पक्षियों के बलिदान होते थे और पूजा में गध पुष्प के अतिरिक्त बलि पशुओं के रक्त रजित शव भी चढ़ाये जाते थे (जा० १।१२६।१२७)।

मत्स्य पुराण (अध्याय १८०) में यक्ष हरिकेश की कहानी से काशी की यक्ष पूजा पर काफी प्रकाश पड़ता है और यह भी पता चलता है कि शिव-पूजा के आंदोलन के द्वारा यक्ष-पूजा काशी से कैसे हटी। हरिकेश यक्ष पूर्णभद्र यक्ष का पुत्र था। वह बहुत शुद्ध आचरण वाला और तपस्वी था तथा वचन से ही शिव-भक्त था। हरिकेश के इस आचरण से पूर्णभद्र यक्ष बहुत क्रुपित हुआ और उसने उसे घर से निकाल बाहर करने की धमकी दी, पूर्णभद्र की राय में हरिकेश का आचरण यक्षों के आचरण के प्रतिकूल था। यक्ष तो स्वभावतः क्रूर, मांस खाने वाले और हिंसाशील होते थे इसीलिए हरिकेश को मनुष्यों का आचरण शोभा नहीं देता था। जब हरिकेश ने अपने पिता की बात न मानी तो उसे अपना घर छोड़ देना पड़ा और वाराणसी में आकर उसने एक हजार वर्ष तक शिव की आराधना की (मत्स्य० १८०।६-२०)। शिव ने इस घोर तपस्या से प्रसन्न होकर हरिकेश से वर मांगने को कहा। इस पर हरिकेश ने वाराणसी में सदा स्थित रहने का वर मांगा। शिव ने उसकी इच्छा स्वीकार कर ली और उसे काशी का क्षेत्रपाल नियुक्त किया और उसके सहायक अक्ष, दण्डपाणि, उद्भ्रम और सन्नम यक्ष नियुक्त किये गये (मत्स्य० १८०।८८।९९)। मत्स्य पुराण में एक दूसरी जगह (१८३।६२।६६) वाराणसी के शिव गणों में यक्षों के बहुत-से नाम गिनाये गये हैं यथा विनायक, कूष्माण्ड, गजतुड, जयत, मदोत्कट इत्यादि। इसमें कुछ सिंह और व्याघ्र-मुख वाले होते थे। कुछ का आकार विकट था और कुछ कुब्ज और वामन होते थे। दूसरे गण नन्दी, महाकाल, चडघट, महेश्वर, दड-

^१ जगदीशचन्द्र जैन, लाइफ इन ऐंशेंट इंडिया, पृ० २२०-२२१, ववई, १९४७

^२ वही, पृ० २२१-२२

चडेवर तथा घटाकर्ण थे। ये बड़े पेट वाले यक्ष वज्रशक्तिवारी होते थे और सदा अवि-मुक्त तपोवन की रक्षा करते रहते थे।

इस कथा से कई बातों का संकेत मिलता है। सबसे पहली बात तो यह है कि हरिकेश यक्ष की पूजा बनारस में होती थी और इस यक्ष का संबंध पूर्णभद्र यक्ष से था। दूसरी बात यह है कि जिस समय बनारस में यक्ष पूजा प्रचलित थी उस समय वहाँ शिव पूजा भी जारी थी। लगता है यक्ष और शैवधर्म में बराबर कशमकश जारी रही। अंत में दोनों धर्मों में समझौता हो गया या यों कहिये कि शैवधर्म ने यक्षधर्म को अपने में मिला लिया और जितने यक्ष थे वे सब शिव के पार्षद हो गये। मत्स्य पुराण (१८०।६२) में एक जगह यहाँ तक कहा गया है कि महायक्ष कुबेर ने भी वाराणसी में अपना स्वभाव छोड़ दिया और गणेशत्व पद को प्राप्त हो गये। शिव के सेवक हो जाने से भृगुरपाणि यक्ष द्वार द्वार पर रक्षक का काम करने लगे (मत्स्य, १८३।६६)। शैवधर्म की यक्ष-धर्म पर पूर्ण विजय कब हुई यह कहना तो मुश्किल है पर यह एकाएक नहीं हुई, यह तो निश्चय है, इसमें सदियों लग होंगे। संभवतः गुप्तकाल में शैवधर्म की यक्ष-धर्म पर पूर्ण विजय हो गयी। कम से कम हम पुरातत्त्व के आधार पर तो इसी नतीजे पर पहुँचते हैं।

हरिकेश की कथा के संबंध में एक बात जानना जरूरी है। यह कथा काशी खड (अ० ३२) में भी आती है लेकिन यहाँ इस कथा की प्राचीनता नष्ट हो गयी है। पूर्णभद्र और हरिकेश यक्ष के उल्लेख तो हैं पर वे यहाँ पूर्ण शिवभक्त माने गये हैं। यहाँ तक कि हरिकेश का जन्म भी शिव-तपस्या का प्रसाद कहा गया है। पूर्णभद्र और हरिकेश में जब वहस होती थी तब पूर्णभद्र उसको वाराणसी जाने से रोकने का कारण अपना वैभव बतलाता था। मत्स्य वाली कहानी में पूर्णभद्र यक्ष-धर्म की खास बातें बतलाता है, जैसे क्रूरता, मांस भक्षण इत्यादि, इन सब का काशी खड में पता तक नहीं है। लगता है कि चौदहवीं शताब्दी में यक्ष-धर्म की प्राचीन कल्पना करीब करीब नष्ट हो चुकी थी। पर बनारस में परंपरा बहुत मुश्किल से मरती है। हजारों वर्ष बीत जाने पर भी हरिकेश यक्ष आज दिन भी बनारस से थोड़ी दूर पर भभुआ में हरसू वरम के नाम से तथाकथित छोटी जातियों द्वारा पूजे जाते हैं। आज भी उनके नाम से भस्म मानी जाती है, तथा हरसू वरम स्त्रियों के सिर पर आते हैं और भूत भविष्य की बातें बताते हैं। भूत उतारने के लिए तो हरसू वरम बड़े ही प्रसिद्ध माने जाते हैं।

महाजनपद युग में बनारस में हिमालय के अनेक तपस्वियों का बराबर आवागमन होता रहता था (जा० ३।३६१)। जातको से यह तो पता नहीं चलता कि ये तपस्वी कौन-सा धर्म मानने वाले थे, पर हम इन्हें शैव मान सकते हैं। बनारस वाले इन तपस्वियों को काफी दान दक्षिणा देते थे और राजा भी उनका काफी आदर करते थे। विषय नाम के काशी के एक सेठ ने तो नगर के चारों द्वार पर, नगर के बीच में और अपने घर पर दान घालाएँ बनवायी थी जहाँ निरंतर भिक्षाथियों को भिक्षा बँटा करती थी (जा० ३।१२९)।

इस युग में नाग पूजा भी बहुत प्रचलित थी। लोगों का विश्वास था कि नाग जल के अंदर बड़े बड़े महलों में रहते थे और अपनी इच्छानुसार मनुष्य तथा दूसरे रूप धारण कर सकते थे। क्रुद्ध होने पर वे भीषण हो उठते थे लेकिन साधारणतः वे, स्वभाव से दया-

वान और क्षौमल होते थे। वाराणसी के नागरिक उनकी पूजा दूध, चावल मछली, भास और मद्य से करते थे (जा० १।३११)।

बुद्ध के समय बनारस में नाग पूजा प्रचलित थी। धम्मपद अट्ठकथा में (३।२३०) कहा गया है कि बनारस के पास सात सिरीस के पेड़ों का झुरमुट था और यही बुद्ध ने नाग एरकपत्त को उपदेश दिया। आज दिन भी बनारस में नाग-पूजा के कुछ अवशेष बच गये हैं। नाग कुत्तों को लोग अब भी पवित्र मानते हैं और नागपंचमी तो बनारस का एक प्रधान त्यौहार है।

उत्तर भारत की और दूसरी जगहों की तरह बनारस में भी उस समय वृक्ष-पूजा का समस्त काफी प्रचार था। इस वृक्ष-पूजा के द्वारा वृक्ष के अंदर बसने वाले देवता अथवा यक्ष की पूजा होती थी। जातकों में वृक्षों को बलि देने की प्रथा का उल्लेख है और कभी कभी तो वृक्षों को नर बलि भी दी जाती थी। वृक्षों से भविष्य की बातें भी पूछी जाती थीं और वे पुत्र और धन देने वाले माने जाते थे। वृक्षों पर मालाएँ लटकायी जाती थी और उनके चारों ओर दीपक बाले जाते थे।^१

महाजनपद युग में मन्त्र तंत्र बहुत लोकप्रिय थे और लोग जादू टोने में विश्वास करते थे। शकुन-विद्या (निमित्त शास्त्र) अर्थात् ज्योतिष का भी बोलवाला था। लक्षण पाठक, स्वप्न पाठक, अर्थाविद्या पाठक, नैमित्तिक और नक्षत्रज्ञाता शकुन अपशकुन, सायत, अच्छेदुरे भाग्य इत्यादि की बातें लोगों को बतलाते थे। ओझा भूतो पर अपना अधिकार बतलाकर मन्त्रों के द्वारा अपशकुनों को वारण करने की क्रियाएँ करते थे। लोगों का विश्वास था कि अभिमन्त्रित चालू सिर पर रखकर और सिर पर नाड़ा बाँधने से भय से मुक्ति मिलती है। बहुत-सी जगहों में भूत प्रेतों का डेरा माना जाता था और उनके हटाने के लिए मन्त्र प्रयोग में लाये जाते थे।^२ बनारस के एक राजा का उल्लेख धम्मपद अट्ठकथा में (१।१५१) है। इस राजा ने मन्त्र सीखने के लिए एक ब्राह्मण को एक हजार कार्षापण दिये थे।

उपर्युक्त धार्मिक विवरण से यह पता चलता है कि उस समय सर्वसाधारण भूत प्रेत, यक्ष, नाग, वृक्ष आदि की पूजा करते थे और जादू टोने में उनका काफी विश्वास था। धर्म की यह अवस्था समाज के आदिम युग की सूचक है और समस्त ये विश्वास आर्यों के पहले से इस देश में चले आते थे। 'आर्यधर्म' की देश के इस आदिम धर्म से टक्कर हुई पर जैसा कि अथर्व वेद से विदित होता है विजेताओं ने विजितों के बहुत-से विश्वासों को अपना लिया। पर धर्म और विश्वास के क्षेत्र में इस उथलपुथल से कुछ लोगों में प्रज्ञात्मक वृत्ति जागी और इस तरह एक नवीन विचारधारा का उदय हुआ, जिसे हम उपनिषद् काल की विचारधारा कहते हैं।

इस युग की दार्शनिक विचारधारा को हम वैदिक विचारधारा का स्वामाविक विकास मान सकते हैं। वैदिक विचारधारा और कर्मकांडों से लोगों की रुचि हटने लगी। लोग अनुभव करने लगे कि आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिए वेदाध्ययन, कर्मकांड और दान-

^१ मेहता, उल्लिखित, पृ० ३२६।

^२ मेहता, उल्लिखित, पृ० ३२७।

दक्षिणा से कुछ नहीं होता, उसके लिए तो गभीर चिंतन और ज्ञान की आवश्यकता है और ब्रह्मज्ञान यज्ञादि से कहीं ऊँचा है। शायद ओद्दालक आशुषि के नेतृत्व में वैदिक कर्मकांड के विरुद्ध यह आंदोलन चला और इसी काल में परिव्राजकों की परंपरा का भी उदय हुआ। उनकी विचार-धारा में वैदिक धर्म के बाह्याडंबरों की अपेक्षा तत्त्वज्ञान का अधिक अन्वेषण हुआ और धीरे धीरे यह विचार-धारा वैदिक धर्म के क्रियाकांड में अलग होने लगी। जातको (जा० ६।२०६-०८, गाथा ८८३-१०२) के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि इस विचार-धारा के अनुसार वेदों का कोरा अध्ययन वृथा था। इसी प्रकार यज्ञ, होम और अग्निहोत्र इस विचार-धारा के अनुसार ब्राह्मणों की घोषेवाजी थी और ब्राह्मण असत्यवक्ता और झूठी कथाओं को कहने वाले थे। यह विचार-धारा ब्रह्म की कल्पना को भी इसलिए नहीं मानती थी क्योंकि यदि ब्रह्म सारी सृष्टि में व्याप्त है तो फिर समार में दुःख, अशांति, ठगी, झूठ, अनाचार और अन्याय क्यों है ?

ज्यों ज्यों महावीर और बुद्ध का समय पास आने लगता है, हम महाजनपद युग के सांस्कृतिक वायु-मंडल में इस नवीन विचारधारा और दर्शनों का बढ़ता हुआ प्रकाश देखते हैं। इस विचारधारा को देश में फैलाने के लिए कोई मथटित मध न था और न इसके अनुयायियों के लिए यही आवश्यक था कि वे इन नये विचारों को ही अंतिम सत्य मानकर अपनी चिंतन शक्ति को विश्राम दें, उनमें यह अपेक्षित नहीं था कि अपने स्वतंत्र विचारों को किसी तरह दबावें। इस नये धर्म को ग्रहण करने का एक ही अर्थ था कि लोग प्राचीन विचारशैली को छोड़कर नवीन एवं स्वतंत्र दृष्टिकोण ग्रहण करें। यह धर्म रुढ़िगत भावनाओं को दबाता था पर उनकी दृष्टि ऐसी उदार थी जो दूसरों के दृष्टिकोण को भी देख सकती थी।

महाबोधि जातक में (जा० ५।२२८ इत्यादि) महाजनपद युग की दार्शनिक विचार-धाराओं का यथा अहेतुवाद, इस्सरकारणवाद, पुत्रेकतवाद, उच्छेदवाद, और क्षतविज्जावाद का उल्लेख किया है। अहेतुवादी कारण नहीं मानते थे और उनके अनुसार पुनर्जन्म शुद्धि का कारण था। इस्सरकारणवादी एक कर्ता की स्थिति मानते थे। पुत्रेकतवादी कर्मवाद पर विश्वास करते थे, उच्छेदवादी मृत्यु के बाद ही शरीर का अंत मानते थे और क्षतविज्जावादियों का सिद्धान्त था—आत्मान सतत रक्षेत् और इसमें अगर पिता तक का वध करना पड़े तो कोई बुरी बात नहीं थी। इन विचार शैलियों का बुद्ध और महावीर दोनों ने घोर विरोध किया।

आजीवक धर्म को, जो जैन और बौद्ध दोनों धर्मों से प्राचीन था, मस्करी गोसाल ने आगे बढ़ाया। बौद्ध और जैन शास्त्रों में इस धर्म की काफी हद तक उड़ाई गयी है। आजीवक घोर तपस्या में विश्वास करते थे और नगे रहते थे, दूरे या भले कर्मफल पर विश्वास नहीं करते थे, सब जीवों को समान मानते थे और नियतिवादी थे।

महाजनपद युग में उपर्युक्त विचार धाराओं के साथ साथ एक ऐसी विचार-धारा थी जिसमें कर्मफल, धर्म और शील अथवा विनय का महत्वपूर्ण स्थान था जो भारतीय सांस्कृतिक इतिहास में बहुत दिनों तक बना रहा।